* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ६६
संख्या ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, वि०-सं० २०४९, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१८, जून १९९२ ई०

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.५० रु०
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ५५.००रु०
विदेशमें ९ डालर
(अमेरिकन)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

वात्सल्यभरा शासन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
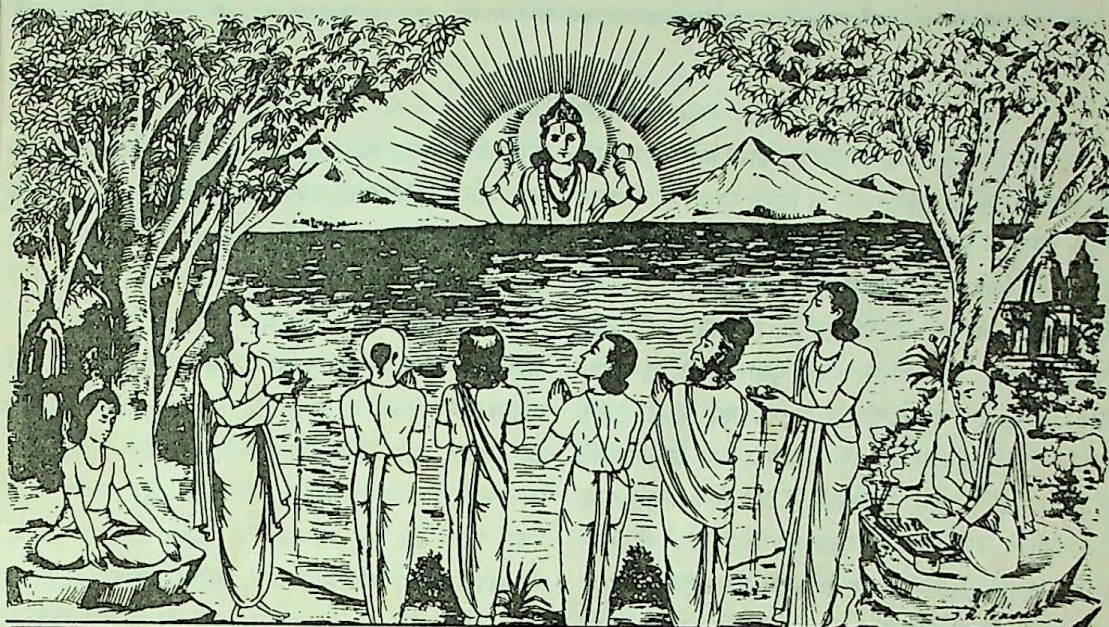
एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते ।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥

वर्ष ६६ } गोरखपुर, सौर आषाढ़, वि॰सं॰ २०४९, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१८, जून १९९२ ई॰ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ७८७

मैयाकी सीख

भूषन-बसन सजाय सबिधि मैया मुरली कर दीनी। कमलनैन ने कर्‌यौ कलेवा, चलिबै की मन कीनी ॥
मैया कह्यौ—'लाल मेरे तुम बहुत दूर जिन जइयौ। साँढ साँप बीछिनि तें लाला दूर डरत ही रहियौ ॥
सूधे-से हामी भर, तुरतहि आँगन-बाहर भागे। कारौ नाग देखि, तहँ, तातें करन अचगरी लागे ॥
पाछे-पाछे आय रही ही मैया नेह भरानी। बिषधर भुजँग निकट लाला कौं देखत ही डरपानी ॥
दौरि हटकि धीरे तें नेह भरे मन लगी डरावन। कोमल अँगुरिन पकरि कान दहिनौ लागी धमकावन ॥
अचरज भरे डरे मन लाला अपराधी-से ठाढ़े। मैया च्यौं निरदोष मोय डरपावति सोचत गाढ़े ॥
लोकपाल काँपत जाके डर अखिल भुवनके स्वामी। डरपत लीला करत स्वयं वे भक्त-प्रेम-अनुगामी ॥
वत्सलता परिपूरित मैया-हिय कैसो सुचि पावन। देखत फन उठाय फनि निज लीला सुललित मनभावन ॥

कल्याण

याद रखो—जैसे किसी दरिद्रका नाम 'कुबेर' रख देनेसे वह धनवान् नहीं हो जाता, वैसे ही किसी साधारण व्यक्तिका 'संत'-'महात्मा' नाम रखनेसे वह 'संत'-'महात्मा' नहीं हो जाता। किसीको कोई संत-महात्मा कहता हो, जो अपना परिचय संत-महात्माके नामसे देता हो, जिसकी जगत्में बड़ी ख्याति हो और जिसकी सब ओर पूजा-प्रशंसा या स्तुति-प्रार्थना होती हो, पर जो वस्तुतः संत-महात्मा न हो, उसके कहने-कहलानेका या ख्याति-पूजा-प्रार्थना प्राप्त करनेका कुछ भी मूल्य नहीं है। वह धोखा देता है और स्वयं धोखा खाता है। इसलिये संत-महात्मा कहलाओ मत, अपनेको संत-महात्मा मानो मत—संत-महात्मा बनो। जो जगत्में प्रशंसा-पूजा पानेके लिये भोग-वैभव, मान-सम्मान या यश-कीर्ति प्राप्त करनेके लिये संत-महात्मा बना हुआ है, वह संत-महात्मा नहीं है।

याद रखो—संत वह है जो सब जगह सर्वदा सत्को—भगवान्को देखता है, महात्मा वह है जो समस्त चराचरमें वासुदेवके दर्शन करता है, जो स्वयं भगवद्भावको प्राप्त है, जगत्में भगवद्भाव देखता है और सबको भगवद्भाव प्रदान करता है।

याद रखो—जो अपने भगवद्भावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्भाव ला देता है, उनके अंदर सोये हुए भगवान्को जगा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बड़ी सेवा करता है। इसके विपरीत जो अपने आसुरीभावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्विरोधी आसुरीभाव उत्पन्न कर देता है, उनके अंदर सोये हुए शैतानको प्रबुद्ध कर उसे बढ़ा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बहुत बड़ी हानि करता है। इसलिये सदा-सर्वदा अपनेको भगवद्भावसे युक्त रखो और संसारमें पद-पदपर भगवान्को प्रबुद्ध करते रहो। तभी संत-महात्मा बन सकोगे।

याद रखो—संत-महात्मामें अभिमान या गर्व होता ही नहीं, जो संत-महात्मापनका—पारमार्थिकता या आध्यात्मिकताका गर्व करता है, वह सच्चे परमार्थ और अध्यात्मसे बहुत दूर है। धन और अधिकारके अभिमानकी अपेक्षा परमार्थ और अध्यात्मका अभिमान कहीं भयानक पतनकारक सिद्ध होता है।

याद रखो—सच्चा संत-महात्मा न तो अपनेको संत-महात्मा मानता है, न घोषित करता है और न दूसरेके द्वारा कहे जानेपर उसे स्वीकार ही करता है। विनय या नम्रताकी दृष्टिसे नहीं, वस्तुतः सच्चे संतको अपनेमें विशेषता दीखती ही नहीं। वह सर्वत्र भगवान्की महिमा देखता है और उसीमें सहज स्थित रहता है। वह त्यागका भी त्यागी होता है। किसी प्रकारका गर्व-दर्प-अभिमान उसके पास भी नहीं फटक पाता।

याद रखो—सच्चा संत प्रचारके लिये या किसीके उद्धारके लिये अभिमानपूर्वक कोई प्रयास नहीं करता, विचार भी नहीं करता। वह तो सदा अपने-आपमें रमण करता, आत्माराम रहता है अथवा स्वान्तःसुखाय उसके द्वारा उसके अपने प्रियतम प्रभुकी प्रीति-सुधा-रसका प्रवाह बहने लगता है। वह संसारके उद्धारके लिये कोई आग्रह या प्रयत्न नहीं करता, उसका वह आत्मरमण अथवा उसकी वह स्वतः प्रवाहित प्रियतमकी प्रीति-सुधा-रसकी मधुर धारा संसारके सम्पूर्ण दुःख-दावानलको, सारी मृत्युकी विभीषिकाको, समस्त ज्वाला-यन्त्रणाको हरकर उसे सच्चे सुखके शुभ दर्शन करवाकर आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि करा देता है। इसीमें संतका सहज संतपन है, यही महात्माका माहात्म्य और महत्त्व है।

याद रखो—सच्चे संत-महात्मा वासना, कामना, ममता, आसक्ति एवं दर्प-अभिमानसे सर्वथा रहित होते हैं, इससे न तो उन्हें स्वयं अपने संतपनका स्मरण रहता है और न वे दूसरोंको ही इसकी स्मृति दिलाते हैं। अतः उनके द्वारा ऐसा कुछ कार्य होता ही नहीं, जिसमें संत कहलानेकी उनकी छिपी वासना भी हो। कहलाना वही चाहते हैं, जो हैं नहीं, जो हैं, वे तो हैं ही। अतएव इन सच्चे संत-महात्माओंका आदर्श सामने रखकर तुम सच्चे संत-महात्मा बनो।—**'शिव'**

भगवत्प्राप्ति

(पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रायः लोग पूछा करते हैं कि क्या भगवत्प्राप्ति इसी जन्ममें हो सकती है? ऐसा एक ही जन्ममें हो सकता है या अनेक जन्मोंमें? इसका कोई नियम नहीं है, किंतु जभी भगवान्‌के प्रति प्रेमका गाढ़ उदय हो जाता है, भगवान् तभी मिल जाते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रामचरितमानस)

अनेक जन्मोंतक भी यदि प्रेमका संचार न हो, तो भगवान् नहीं प्राप्त होते, प्रेम प्रकट हो जानेपर भगवान् एक ही जन्ममें मिल जाते हैं।

जिस समय भक्त भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर स्वाध्याय, ध्यान आदिको प्राप्त होता है, उस समय भगवान्‌को अवश्य प्रकट होना पड़ता है।

आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, परम निष्काम भगवान् परम स्वतन्त्र हैं, तथापि भक्तप्रेममें पराधीन होना उनका एक स्वभाव है। अनुभवी लोगोंने कहा है—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्॥

अहो! कोई निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्मको, कोई सगुण-साकार ब्रह्मको भजते हैं, परंतु मैं तो उस प्रेमबन्धनको भजता हूँ, जिससे बँधकर अनन्त प्राणियोंको मुक्ति देनेवाला, स्वयं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्म भक्तोंका खिलौना बन जाता है।

जिस समय भक्त भगवान्‌के बिना न रह सके, उस समय भगवान् भी भक्तके बिना नहीं रह सकते। जैसे पंखरहित पतङ्ग-शावक अपनी माँको पानेके लिये व्याकुल रहते हैं, जैसे क्षुधार्त वत्सतर (छोटे गोवत्स) माँका दूध चाहते हैं, किंवा परदेश गये हुए प्रियतमसे मिलनेके लिये प्रेयसी विषण्ण होती है, हे कमलनयन! मेरा मन आपको देखनेके लिये वैसे ही उत्कण्ठित होता है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

इस प्रकारकी सोत्कण्ठ भक्तकी प्रार्थनासे भगवान् द्रवित होकर भक्तसे मिलनेको दौड़ पड़ते हैं।

हाँ, यह ठीक है कि भगवत्सम्मिलनकी ऐसी उत्कट उत्कण्ठा सरल नहीं है, किंतु जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरोंके पुण्यपुञ्जसे ही भगवान्‌में उत्कट प्रीति प्राप्त होती है। इसीलिये उपनिषदोंने कहा है कि ब्राह्मणादि अधिकारी लोग यज्ञ, तप, दान और अनशनादि सत्कर्मोंसे उन परमतत्त्व भगवान्‌को जाननेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करते हैं—

'तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति।'

जब उस परमतत्त्वकी जिज्ञासा ही उत्पन्न करनेमें अनेक जन्मोंके सत्कर्मोंकी अपेक्षा होती है, तब स्पष्ट ही है कि जिसे भगवत्सम्मिलनकी उत्कट कामना है, जिसे भगवान्‌के न मिलनेसे महती व्याकुलता है, वह केवल इसी जन्मका सत्कर्मी नहीं, अपितु पहले जन्मोंसे भी उसका इस सम्बन्धमें प्रयत्न चल रहा है। इस दृष्टिसे ध्रुवकी जन्मान्तरीय तपस्याओं तथा—**'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'** इत्यादि वचनोंकी संगति लग जाती है। प्रेमके उत्कट हो जानेपर उसी क्षण भगवान्‌का दर्शन होता है। फूल तोड़नेमें विलम्ब हो सकता है, किंतु उस समय भगवान्‌के मिलनेमें किंचित् भी विलम्ब नहीं होता। भगवान् प्राणियोंके अन्तरात्मा, सर्वसाक्षी हैं, उनको पानेमें कौन कठिनाई है?—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।

(श्रीमद्भा० ७।७।३८)

—इत्यादि बातोंकी भी संगति लगती है। भगवत्प्राप्तिमें अत्यन्त प्रयत्न करनेकी अपेक्षा बतलानेके लिये शास्त्रोंने भगवान्‌को अत्यन्त दुर्लभ कहा है, निराशा मिटाकर उत्साह बढ़ानेके लिये भगवान्‌को अत्यन्त सुगम भी कहा है—

'दूरात् सुदूरे अन्तिकात् तदु अन्तिके च।

भगवान् दूरसे दूर और समीपसे भी समीप है।

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जनने कुछ उपयोगी प्रश्न लिख भेजे हैं। उनका उत्तर अपनी स्वल्पबुद्धिके अनुसार नीचे देनेकी चेष्टा की जाती है। प्रश्नोंकी भाषा आवश्यकतानुसार सुधार दी गयी है। प्रश्न इस प्रकार हैं—

(१) जीव, आत्मा और परमात्मामें क्या भेद है ?

(२) सुख-दुःख किसको होते हैं—शरीरको या आत्माको ? यदि कहा जाय कि शरीरको होते हैं तो शरीर तो जड पदार्थोंका बना हुआ है, जड पदार्थोंको सुख-दुःखकी अनुभूति कैसे होगी ? और शरीर तो मरनेके बाद भी कायम रहता है, उस समय उसे कुछ भी अनुभूति नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि सुख-दुःखकी अनुभूति आत्माको होती है तो यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं मालूम होता, क्योंकि गीता आदि शास्त्रोंमें आत्माको निर्लेप, साक्षी एवं जन्म-मरण तथा सुख-दुःखादिसे रहित बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त चीर-फाड़ करते समय डॉक्टरलोग रोगीको क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर देते हैं। आत्मा तो उस समय भी मौजूद रहता है, फिर रोगीको कष्टका अनुभव क्यों नहीं होता ?

(३) शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें जन्म आत्माका होता है या पञ्चभूतोंका ? यदि कहा जाय कि आत्माका, तो आत्मा तो साक्षी एवं निर्लेप होनेके कारण कर्ता नहीं है और जन्म होता है कर्मोंके अनुसार कर्मोंके फलरूपमें। ऐशी दशामें आत्माका जन्म क्यों होगा और वह सुख-दुःखका भोक्ता भी क्यों होगा ? यदि कहा जाय कि पञ्चभूतोंका ही जन्म होता है आत्माका नहीं, तो यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं मालूम होता, क्योंकि मृत्युके बाद शरीरका पाञ्चभौतिक अंश अपने-अपने तत्त्वमें मिल जाता है, फिर जन्म किसका होगा ?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) प्राणिमात्रकी 'जीव' संज्ञा है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीन प्रकारके व्यष्टिशरीरोंमेंसे एक, दो या तीनोंसे सम्बन्धित चेतनका नाम 'जीव' है। इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धोंसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। इसीको 'कूटस्थ' भी कहते हैं। वैसे तो गीतादि शास्त्रोंमें मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय आदिके लिये भी 'आत्मा' शब्दका व्यवहार हुआ है, परंतु प्रश्नकर्तानि मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय आदिसे भिन्न शुद्ध चेतनके अर्थमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग किया है। अतः उसीके अनुसार 'आत्मा' का लक्षण किया गया है। तथा शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत अक्षर ब्रह्मको परमात्मा कहते हैं। आकाशके दृष्टान्तसे उक्त तीनों पदार्थोंका भेद कुछ-कुछ समझमें आ सकता है। जो आकाश अनन्त घटोंमें समान-रूपसे व्याप्त है, उसे वेदान्तकी परिभाषामें 'महाकाश' कहते हैं और जो किसी एक घटके अंदर सीमित है, उसे 'घटाकाश' कहते हैं। महाकाशस्थानीय परमात्मा हैं, घटाकाशस्थानीय आत्मा अथवा शुद्ध चेतन है और जलसे भरे हुए घड़ेके अंदर रहनेवाले जलसहित आकाशके स्थानमें जीवको समझना चाहिये। इसीको जीवात्मा भी कहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंमेंसे एक, दो या तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध होनेपर ही इसकी 'जीव' संज्ञा होती है। इनमेंसे कारणशरीरके साथ तो जीवका अनादि सम्बन्ध है, महासर्गके आदिमें उसका सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जो महाप्रलयपर्यन्त रहता है और देव-तिर्यक्-मनुष्यादि योनियोंसे संयुक्त होनेपर उसका स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है। एक शरीरको छोड़कर जब यह जीव दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, उस समय पहला शरीर छोड़ने और दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके बीचके समयमें उसका सम्बन्ध सूक्ष्म और कारण दोनों शरीरोंसे रहता है और जब यह किसी योनिके साथ सम्बद्ध रहता है, उस समय इसका स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि सुख-दुःखका भोक्ता शरीर है या आत्मा ? इस सम्बन्धमें प्रश्नकर्ताका यह कहना ठीक ही है कि सुख-दुःखका भोक्ता न केवल शरीर है और न शुद्ध आत्मा ही। तो फिर इनका भोक्ता कौन है ? इसका उत्तर यह है कि शरीरके साथ सम्बद्ध हुआ यह जीव ही सुख-दुःखका भोक्ता है। गीतामें भी कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

योगसूत्रोंमें भी प्रायः ऐसी ही बात कही गयी है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।'

(यो॰ द॰ २। १७)

'द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका संयोग ही हेय अर्थात् दुःखका हेतु है।'

इस संयोगका कारण अविद्या अर्थात् अज्ञान है—

'तस्य हेतुरविद्या।' (यो॰ द॰ २। २४)

अज्ञानके कारण ही चेतन आत्मा 'मैं देह हूँ' ऐसा मानने लगता है और इसीलिये सुखी-दुःखी होता है। इस अविद्यारूप कारणके नाश हो जानेपर उक्त संयोगरूप कार्यका भी नाश हो जाता है, इसीको आत्माका कैवल्य अर्थात् मोक्ष कहते हैं—

'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।

(यो॰ द॰ २। २५)

समाधि, गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) तथा मूर्च्छाके समय सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता—इसका कारण यही है कि उस समय मन-बुद्धि, जो सुख-दुःखकी अनुभूतिके द्वार हैं, अपने कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। इसीलिये डॉक्टरलोग चीर-फाड़के समय क्लोरोफार्म आदिका प्रयोग करके कृत्रिम मूर्च्छाकी स्थिति ले आते हैं। महाप्रलयके समय, जब जीवका केवल कारणशरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, उस समय भी सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। सुख-दुःखका अनुभव सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध होनेपर ही होता है। अतएव जाग्रत्-अवस्था अथवा स्वप्नावस्थामें ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। स्वप्नावस्थामें स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध न रहनेपर भी मन-बुद्धिके साथ तो सम्बन्ध रहता ही है, अतएव उस समय जीवको प्रत्यक्षवत् ही सुख-दुःखकी अनुभूति होती है।

(३) तीसरा प्रश्न यह है कि शुभाशुभ कर्मके अनुसार नाना योनियोंमें जो जन्म होता है, वह आत्माका होता है या पञ्चभूतोंका? इस विषयमें भी प्रश्नकर्ताका यह कहना युक्तियुक्त ही है कि शुद्ध आत्मा तो जन्मता-मरता नहीं और पञ्चभूतोंका भी जन्मना-मरना नहीं कहा जा सकता, फिर जन्मने-मरनेवाली वस्तु कौन-सी है? इसका उत्तर यह है कि जो जीव सुख-दुःख भोगता है, वही जन्मता-मरता भी है। यही बात गीता (१३। २१) में कही गयी है—

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥'

जीवात्माका जन्म-मरण किस प्रकार होता है, इसका रहस्य समझनेके लिये पहले जन्म और मृत्युके तत्त्वको समझना आवश्यक है।

यह बात ऊपर कही जा चुकी है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण—इन तीन शरीरोंमेंसे कम-से-कम एक शरीरके साथ सम्बन्ध जीवका रहता ही है। महाप्रलयके समय तथा गाढ़ निद्रा एवं मूर्च्छा आदिकी अवस्थामें जीवका सम्बन्ध केवल कारणशरीरसे रहता है, ब्रह्माकी रात्रिमें, स्वप्नावस्थामें तथा एक स्थूलशरीरको छोड़कर दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश करते समय कारण एवं सूक्ष्म दोनों शरीरोंके साथ सम्बन्ध रहता है और जाग्रत्-अवस्थामें, जबतक यह जीव किसी योनिविशेषसे संयुक्त रहता है, उसका स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरोंके साथ सम्बन्ध रहता है। यह भी बताया जा चुका है कि कारणशरीरके साथ सम्बन्ध तो जीवका अनादि कालसे है और जबतक यह मुक्त नहीं होगा, तबतक रहेगा, सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध महासर्गके आदिसे लेकर महाप्रलयपर्यन्त रहता है और स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध इसका पुनः-पुनः होता है और टूटता है। कर्मानुसार जीवका किसी एक स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध होना ही उसका जन्म कहलाता है और आयु शेष हो जानेपर उस शरीरके साथ सम्बन्धविच्छेद हो जाना ही उसकी मृत्यु है।

अब प्रश्न यह होता है कि इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना-आना किसका होता है। आत्मा तो आकाशकी भाँति सर्वव्यापी है, अतः उसका गमनागमन नहीं बन सकता। इसका उत्तर यह है कि गमनागमन वास्तवमें सूक्ष्मशरीरका होता है। सूक्ष्मशरीरमें प्राणोंकी प्रधानता है और प्राण वायुरूप हैं, अतः उनका जाना-आना युक्तियुक्त ही है। किंतु जैसे घड़ेको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जाते समय उसके अंदर रहनेवाला आकाश भी चलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरके एक स्थूल शरीरसे दूसरे स्थूल शरीरमें जाते समय उसके सम्बन्धसे आत्मा भी जाता हुआ प्रतीत होता

है—इस दृष्टिसे व्यवहारमें आत्माके भी आने-जानेकी बात कही जाती है। परंतु समझानेके लिये औपचारिक दृष्टिसे ही ऐसा कहा जाता है, वास्तवमें आत्मा कहीं आता-जाता नहीं, वह सदा सर्वत्र है।

इस अज्ञानजनित जन्म-मरणके अनादि चक्रसे छूटनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह ज्ञानी महात्माओंका संग करे और उनसे अज्ञानके विनाशका उपाय पूछकर उसका आचरण करे। भगवान्ने (गीता ४। ३४) में कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

'उस ज्ञानको तू समझ, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

भगवती श्रुति भी कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठोप० १।३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनसे ज्ञान सीखो।'

साधनाका मनोवैज्ञानिक आधार

(एक साधक)

तन धन सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया रे।
चंद्र दुखी है, सूर्य दुखी है, भरमत निसि दिन जाया रे॥
ब्रह्मा और प्रजापति दुखिया, जिन यह जग सिरजाया रे।
हाटे दुखिया, बाटे दुखिया, क्या गिरस्थ बैरागी रे॥
शुक्राचार्य जनम के दुखिया, माया गर्ब न त्यागी रे।
धूत दुखी, अवधूत दुखी हैं, रंक दुखी धन रीता रे॥
कहै कबीर वोही नर सुखिया, जो यह मन को जीता रे॥

'साधना' एक आध्यात्मिक शब्द है। साधनाके द्वारा साधक आनन्द और सुखकी प्राप्तिकी आशा करता है। आनन्द और सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? इसके विषयमें अध्यात्मवाद और जडवादमें भारी अन्तर है। संसारके सभी प्राणी सुखकी आशा करते हैं और सुखकी खोजमें ही अनेक प्रकारके यत्न किया करते हैं, किंतु स्थायी सुख किसीको प्राप्त नहीं होता। ज्यों ही हम सुखका स्पर्श करते हैं, त्यों ही यह अभावमें विलीन हो जाता है। जैसा कविवर कीट्सने कहा है—

At a touch sweet pleasure melteth.
Like unto bubbles when rain pelteth.

(जिस तरह बूँदके पड़ते हुए उसके धक्केसे पानीका बबूला फूट जाता है, उसी तरह स्पर्शमात्रसे ही सुख अभावमें विलीन हो जाता है।) जब हमें किसी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तो हम आनन्दसे फूल उठते हैं, जब वह हमारे हाथसे चली जाती है तो हम शोकातुर हो जाते हैं। इतना ही नहीं, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मनमें आनन्दकी स्थिति थोड़ी देरतक रहती है, फिर अपने-आप ही मनमें बेचैनी पैदा हो जाती है। इस स्थितिको शोपेनहर महाशयने अपने सारगर्भित वाक्यमें यह कहकर प्रदर्शित किया है कि मनुष्यका मन सदा दुःख और बेचैनीकी अवस्थामें ही इधर-से-उधर झूलता रहता है (Human mind swings backward and forward between ennui and pain.)

इस दुःख और बेचैनीको हटानेके लिये भौतिक विचारवाले तत्त्ववेत्ताओंने यह मार्ग प्रदर्शित किया है कि हमें सदा ही अनेक प्रकारके सुखोंका संग्रह करते रहना चाहिये। हमें अपने-आपको ऐसा बनाना चाहिये कि जिससे हम अपने मनको संसारके हजारों कार्योंमें व्यस्त रख सकें, ताकि हमें दुःख और सुखके सम्बन्धमें विचार करनेका अवसर ही न रहे। बरट्रैंड रसेल (Bertrand Russel) महाशयने अपनी पुस्तक 'कांक्वेस्ट ऑव हैप्पीनेस' (Conquest of Happiness) में यही दिखलाया है कि मनुष्य अपने-आपको सदा किसी-न-किसी व्यवसायमें लगा करके ही सुखी रह सकता है। इसी प्रकारका सिद्धान्त १८ वीं शताब्दीमें बैन्थम महाशयने इंग्लैंडमें प्रचलित किया था।

इस प्रकारकी भौतिकताको इंग्लैंडके प्रसिद्ध लेखक कार्लाइलने शैतानका राज्य (Reign of Belzebub) कहा है।

हमें एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखना है कि वास्तवमें सुखकी खोज साधनाके द्वारा करनी चाहिये अथवा भौतिक प्रकारसे। साधना करनेवाले व्यक्तिको आज संसारके लोग प्रायः मन्दबुद्धि समझते हैं। हम देखते हैं कि साधक निरर्थक ही अपने शरीरको त्रास दिया करता है और अनेक प्रकारसे अपने-आपको संसारके सुखोंसे वञ्चित करता है। क्या ऐसा करना निरी भूल है ? मनोविज्ञान इस विषयमें क्या कहता है ?

मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानोंके समान ही एक विज्ञान है, अतएव आध्यात्मिकताकी पुष्टि करना मनोवैज्ञानिकके लिये कठिन है, तथापि कुछ मनोविज्ञानियोंने ऐसी मौलिक बात कही है, जिससे हमें यह ज्ञात हो सकता है कि हमें सुखकी खोज कहाँ करनी चाहिये। उसमेंसे एक विलियम जेम्सद्वारा कथित आनन्दका सिद्धान्त है। विलियम जेम्सने इस विषयको एक फार्मूलेमें बतलाया है—'आनन्द=लाभ/तृष्णा (Satisfaction=Achievement. Expectation) यदि किसी मनुष्यका किसी विषयमें लाभ अधिक हो और उसकी आशा (तृष्णा) कम हो तो उसको आनन्द अधिक होगा। यदि उसकी तृष्णा या आशा अधिक हो और लाभ कम तो आनन्द कम होगा। हम आनन्दकी वृद्धि लाभको बढ़ाकर अथवा आशाको कम करके कर सकते हैं। यदि लाभको इतना कम किया जाय कि शून्य हो जाय तो हमारा आनन्द शून्य हो जायगा, किंतु यदि लाभको जैसा-का-तैसा रखते हुए आशाको शून्य कर दिया जाय तो हमारा आनन्द अनन्तानन्द हो जायगा। अर्थात् जिसे ब्रह्मानन्द कहा गया है, उसकी प्राप्ति इस गणितके फार्मूलेके अनुसार आशा या तृष्णाकी शून्यतासे ही सिद्ध होती है। विलियम जेम्स महाशय स्वयं उपर्युक्त निष्कर्षपर नहीं पहुँचे हैं, किंतु उनके दिये हुए मनोवैज्ञानिक फार्मूलेसे हम गणितविज्ञानकी सहायतासे इस निष्कर्षपर सरलतासे पहुँच सकते हैं। जिसकी बुद्धि कुशाग्र है, उसे यह सत्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि हम आशाकी शून्यता कैसे प्राप्त करें। यह सहज ही प्राप्त नहीं हो जाती। संसारके सभी मनीषियोंने तृष्णा या आशाकी शून्यतामें आनन्द और सुखकी प्राप्तिका उपाय बताया है। इस तृष्णाकी शून्यताके लिये साधनाकी आवश्यकता है। आशा या तृष्णा मनकी तरङ्गें हैं। विचलित मन आशा और तृष्णामय होता है। प्रशान्त मन आशा और तृष्णासे रहित होता है। इस प्रशान्त स्थितिको प्राप्त करनेके लिये नित्यकी साधना आवश्यक होती है। मन वायुके समान वेगवान् है, परंतु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वह नियन्त्रणमें लाया जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते[1] ॥

(गीता ६। ३५)

क्या अभ्यासके आध्यात्मिक सत्यका भी कोई मनोवैज्ञानिक आधार है? अभ्यासके द्वारा प्राणिमात्रके स्वभावमें इतना परिवर्तन होता है कि वह एक नये प्रकारका प्राणी बन जाता है। जो शेर अनेक वर्षोंतक पिंजड़ेमें रह आता है, वह पिंजड़ेका दरवाजा खुलनेपर भी पिंजड़ेसे नहीं भागता, यदि उसे बाहर निकाल भी दिया जाता है तो भी वह फिर पिंजड़ेमें ही घुसता है। जिन कैदियोंका जन्म कैदमें ही बीतता है, वे जब कैदसे मुक्त होते हैं तब भी कैदमें ही जानेको तरसते हैं। अभ्यासके कारण ही मील-मील गहरी खानोंमें काम करनेवाले आदमी उन खानोंमें आनन्दसे जीवन बिता ले जाते हैं और अभ्यासके कारण ही ज्वालामुखी पर्वतोंपर रहनेवाले लोग तथा सदा वायुयानमें उड़नेवाले वायुयानचालक निर्भयताके साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका प्राणान्त किसी क्षण हो सकता है, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। अभ्यासके द्वारा गणितज्ञ एक ही प्रश्नको विचारते-विचारते ऐसे समाधिस्थ हो जाते हैं कि खाना-पीना तक उन्हें भूल जाता है और चलते-फिरते भी वे अपने विचारमें ही विचरा करते हैं। हमारा मन अभ्यासके द्वारा इस प्रकारसे नियन्त्रित किया जा सकता है। हम उसे जिधर चाहें ले जा सकते हैं। हम जिस परिस्थितिमें अपने-आपको रखना चाहें, रख सकते हैं। जिस स्थितिसे हमें अभ्यास हो जाता है, उसमें हमें आनन्द आने लगता है। अतएव किसी परिस्थितिको आनन्दमय बनाना अभ्यासपर निर्भर करता है। यदि हमारा

१-योगसूत्रमें कहा है—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'

मन हमारे पूर्ण नियन्त्रणमें है तो हम सभी अवस्थाओंमें अनन्त आनन्दका उपभोग कर सकते हैं। मन अभ्याससे वशमें आता है।

मनको वशमें लानेका अभ्यास अनेक प्रकारका होता है। इन अभ्यासोंका नाम साधना कहा गया है। जिस व्यक्तिने अपने मनको पहलेसे ही शान्ति-अशान्ति, मान-अपमान, सुख-दुःखसे निर्लिप्त बना लिया है, वही निर्विघ्न शान्तिमें स्थित रह सकता है[1]। जो व्यक्ति काम-क्रोधके वेगोंको सह सकता है वही वास्तविक सुखी है[2]।

जब हम अपने मनको दुःखोंके सहनेके लिये पहलेसे तैयार कर लेते हैं तो दुःखोंके आनेपर हम विचलितमन नहीं होते। संसारकी कोई भी परिस्थिति एक-सी नहीं रहती। परिस्थितियोंमें परिवर्तन सदा होते ही रहते हैं, जो व्यक्ति इन परिवर्तनोंसे नहीं डरता, प्रतिकूल परिस्थिति पाकर जिसके मनको किसी प्रकारका उद्वेग नहीं होता, वही एकरस आनन्द और शान्तिका उपभोग कर सकता है। ऐसा ही व्यक्ति अध्यात्मतत्त्वका वास्तविक चिन्तन कर सकता है। सत्यान्वेषणके लिये मनका अनुद्विग्न होना आवश्यक है, बिना मनको वशमें किये सत्यका चिन्तन सम्भव नहीं। अतएव मनको वशमें करनेकी साधना ही सत्यकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है।

कितने साधु-संन्यासी, यती-योगी मनको वशमें करनेके लिये हठयोगका अभ्यास करते हैं। ऐसे योगियोंके ऊपर प्रायः आधुनिक सभ्यतामें पले लोग हँसा करते हैं। इस प्रकारकी चेष्टाओंको वे मन्दबुद्धिका परिचायक मानते हैं। किंतु यदि हम संसारके बड़े-बड़े महात्माओंकी जीवनियोंको देखें और हठयोगकी साधनाका मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विवेचन करें तो हम पायेंगे कि हठयोग सही मार्गपर है।

यूनानका एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता डायोजिनीज, जो कि सुकरातका शिष्य था, अपना जीवन एक नादमें ही बिता लेता था। वह अपने रहनेके लिये घर बाँधना आवश्यक नहीं समझता था। एक बार किसी युवकने उसे एक पत्थरकी मूर्तिसे देरतक भीख माँगते देखा। उस युवकने पूछा—'डायोजिनीज ! भला, पत्थरकी मूर्तिसे तुम क्यों भीख माँगते हो ? क्या वह तुमको भीख दे देगी ?' डायोजिनीजने उत्तर दिया—'मैं इस मूर्तिसे भीख माँगकर किसी पुरुषके भीख न देनेपर शान्त-चित्त रहनेका अभ्यास कर रहा हूँ।' भिक्षा माँगना वास्तवमें त्यागियों और योगियोंके लिये एक साधना है। जो गाली दे अथवा तिरस्कार करे, उसको भी योगी आशीर्वाद ही देता है। जिस योगीका चित्त ऐसी अवस्थामें विचलित हो जाता है, वह योगसे गिर जाता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी 'टाका माटी' का अभ्यास समय-समयपर करते थे। एक हाथमें रुपया लेते और दूसरेमें मिट्टी और 'टाका माटी, टाका माटी' कई बार कहते-कहते दोनोंको फेंक देते थे। इस प्रकारका अभ्यास मनुष्यको पैसेके प्रलोभनमें पड़नेसे बचाता है। स्वामी रामतीर्थको सेब बहुत ही प्रिय थे, उनका मन बार-बार कोई गम्भीर विचार करते हुए सेबोंके ऊपर चला जाता था। एक दिन स्वामीजीने कुछ सेब लाकर अपने सामनेके आलेमें रख दिये, इसलिये कि सदा उनकी नजर उन्हींके ऊपर पड़े। मन बार-बार सेबकी ओर जाता था और वे बार-बार उसे खींचकर दूसरी ओर लगाते थे। इस प्रकार आठ दिनतक युद्ध चला, तबतक सेब सड़ गये, तब वे फेंक दिये गये। इस अभ्यासका परिणाम यह हुआ कि फिर उनका मन सेबोंकी ओर कोई महत्त्वपूर्ण विचार करते समय नहीं जाता था। इस प्रकारका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। जिस चीजपर बार-बार मन जाय, उससे मनको रोकनेके लिये यदि हठ करके अभ्यास किया जाय तो फिर मन उस वस्तुपर नहीं जाता। इतना ही नहीं, वह फिर दूसरी वस्तुओंपर जानेसे भी सरलतासे रोका जा सकता है।

आधुनिक चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी कुछ खोजें ऐसी हैं, जिनसे उपर्युक्त अभ्यास किसी मानसिक स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद नहीं जँचता। मनको हठसे रोकनेवाले व्यक्ति मानसिक और शारीरिक रोगोंके शिकार बनते हैं। हमारी वास्तविक आन्तरिक इच्छाओंका अवरोध हमारे अदृश्य मनमें

१-'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥' (गीता १२।१८-१९)

२-शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (गीता ५।२३)

अनेक प्रकारकी ग्रन्थियाँ (Complex) उत्पन्न कर देता है, जिनके कारण उन्माद, बेचैनी, विस्मृति, हिस्टीरिया आदि अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। अतएव कोई-कोई मनोवैज्ञानिक हमारी पाशविक प्रवृत्तियोंका अवरोध करना हमारे लिये हानिकर बतलाते हैं।

किंतु यह उनकी एक भूल है। ग्रन्थियाँ उन वासनाओं और भावनाओंके अवरोधसे पैदा होती हैं, जो अविचारसे दबायी जाती हैं। जिन वासनाओंके दबानेका कारण विचार है, उनसे मनमें ग्रन्थियोंका पड़ना सम्भव नहीं। विवश होकर, प्रतिकूल वातावरणके कारण जो इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं, वे ही स्वप्न, उन्माद आदिका कारण होती हैं। स्वेच्छामूलक आत्मनियन्त्रण कदापि आत्मविनाशक नहीं हो सकता।

दूसरे, चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी खोजोंसे यह भी पता चलता है कि जो व्यक्ति अपनी नैतिक बुद्धि (Super-ego) की आज्ञाकी अवहेलना करता है, उसे भी अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक क्लेश होते हैं। यदि किसी प्रकारका व्यभिचार करना हमारी नैतिक बुद्धिके प्रतिकूल है तो ऐसा कार्य हमारी पाशविक वासनाको तृप्त करनेवाला होनेपर भी मनमें अशान्ति लायेगा। हमारी नैतिक बुद्धि सदा हमें कोसा करेगी, जिसके कारण हम कदापि शान्त-चित्त नहीं रह सकेंगे। 'पाप दुःखदायी होता है और पुण्य सुखदायी' इस कथनके मूलमें मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है।

मनका नियन्त्रण दो प्रकारसे किया जा सकता है—एक उसकी गतिका मार्ग परिवर्तन करनेसे और दूसरे उसे गतिहीन कर देनेसे। योगसूत्रोंमें वृत्तिहीन-अवस्था ही योगाभ्यासका लक्ष्य बतलाया गया है—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥'

जहाँ चित्तवृत्तिका निवारण हुआ कि आत्मस्वरूपकी प्राप्ति निश्चित ही है। इससे पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और धारणाद्वारा मनकी गति एक ओर लगायी जाती है। वे सब साधन हमें सविकल्प समाधितक पहुँचाते हैं, निर्विकल्प समाधि इसके परे है।

मनोविज्ञानके अनुसार मनको गतिहीन करना सम्भव नहीं। जैसे कि साइकिलपर चढ़ा हुआ मनुष्य साइकिलको रोककर एक ही जगह नहीं रह सकता, उसे सदा गतिमान् बनना पड़ता है। इसी तरह मनुष्यका मन सदा गतिमान् है। किंतु जिस तरह हम साइकिलको एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर ले जा सकते हैं, इसी तरह हम मनको भी एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर लगा सकते हैं। मन कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा, उसे कुछ काम देते रहना चाहिये।

इस मनोवैज्ञानिक सत्यको गीताकारने भली प्रकारसे समझा था। इसलिये गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगको ही मनको वशमें करनेके श्रेष्ठ उपाय बतलाया गया है। निर्गुण और सगुण दोनों ही उपासनाएँ प्रशंसनीय हैं, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णने गीताके बारहवें अध्यायमें[1] सगुण ब्रह्मकी उपासनाको अधिक श्रेष्ठ माना है। वास्तवमें जब अखिल संसारमें एक ही तत्त्व व्याप्त है[2] तो सबकी सेवा करना ही ब्रह्मभावको प्राप्त होना है। यदि हमें आस्तिक बुद्धि प्राप्त हो गयी है तो मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनसे लड़ना व्यर्थ है। हमें मनको योग्य कार्यमें लगाना चाहिये। सभी काम उस एक ही सत्ताके स्फुरणमात्र हैं। यह जानकर जो कुछ भी हम करते हैं, वह परमात्माकी पूजा ही है।

जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोइ जोइ करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा ॥

१-मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ (२—५)

मुझमें (भगवान्में) मन लगाकर निरन्तर मेरे भजनमें लगे हुए जो भक्त जन अत्यन्त श्रद्धाके साथ मुझ सगुणको भजते हैं, वे मेरे मतमें अति उत्तम योगी हैं। परंतु जो पुरुष इन्द्रियसमूहको भलीभाँति वशमें करके अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर ब्रह्मको भजते हैं, वे सब भूतोंके हितमें रत और सबमें समभावसे युक्त योगी भी मुझ (भगवान्) को ही प्राप्त होते हैं। उन अव्यक्त ब्रह्ममें लगे हुए पुरुषोंके साधनमें क्लेश विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

२-ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशावास्योपनिषद्)

मनको शून्यतामें विलीन करना सम्भव नहीं। मन जबतक मनरूपमें है, वह गतिशील ही रहेगा। अध्यात्म-दृष्टिसे मन अविद्याका कार्य है। द्वैतबुद्धि ही अविद्या है। इस द्वैत-बुद्धिका निवारण ज्ञानसे होता है। द्वैतबुद्धिका नाश होनेपर मन अपने-आप विलीन हो जाता है। मनमें चैतन्यका आभास होनेके कारण ही वह चञ्चल है। जबतक शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति नहीं होती, मनका इधर-उधर दौड़ना स्वाभाविक है। वास्तवमें मनकी इस दौड़-धूपका अन्तिम प्रयोजन आत्मानन्द प्राप्त करना ही है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि स्थायी सुखका होना साधनापर ही निर्भर है। यह साधना मनको वशमें करना है और मनको वशमें करनेका सरल उपाय उसे परमात्माके हेतु निरन्तर भले कामोंमें लगाये रखना है। जहाँतक मनोविज्ञान इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करता है, उसके सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया। किंतु साधनाकी उपयोगिताके विचारमें अन्तिम प्रयोजन अपरोक्षानुभव ही हो सकता है, मनोविज्ञान उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

प्रियतमसे

(१)

अगम सिन्धुमें डगमग-डगमग होती मेरी नैया,
आवो-आवो पार लगाओ खेवनहार कन्हैया!
बीहड़ वनमें भटक रहा यह व्याकुल विपथ बटोही,
निज मंजिलकी राह बता दो ओ प्रीतम निर्मोही!

(२)

जीवन-वन यह रस-विहीन-सा लगता सूना-सूना,
धधक रहा रह-रहकर इसमें दुख-दावानल दूना।
अन्तर्नभमें सुख-सावनकी सरस पवन बन डोलो,
अपने रसकी नव रिम-झिमसे अब तो इसे भिगो लो॥

(३)

जगसे नाता तोड़ मोड़ मुख आकुल और उदासे,
टेर रहे घनश्याम! तुम्हें ही प्रान-पपीहे प्यासे।
कितनी बार शरत्-पूनम है आ-आकर मुसकायी,
किंतु यहाँपर मोहन! तुमने मुरली कहाँ बजायी?

(४)

क्षण-क्षणमें आशा होती है अब आये, अब आये,
ललक रहीं आँखें पल-पलमें पथपर पलक बिछाये।
बाट जोहते युग बीता है, बढ़ती है बेहाली,
कब आवोगे इस मधुवनमें ओ मेरे वनमाली!

(५)

बीत चला चुपके-चुपके ही यह मधुमास सलोना,
कभी नहीं मुखरित हो पाया इस निकुंजका कोना।
ओ मेरे मतवाले कोकिल! आज मधुर रस घोलो,
एक बार भी तो तुम आकर इस डालीपर बोलो॥

(६)

बड़ी साधसे राह देखती बनकर गोपकिशोरी,
मेरे घरमें आज कन्हैया! हो माखनकी चोरी।
भाव-भरी चंचल चितवनसे मुझे लुभाने आवो,
मुरलीके स्वर-संकेतोंमें मुझे बुलाने आवो॥

(७)

मेरी बुनी हुई चीजोंको तुम उधेड़ने आवो,
पग-पगपर मेरे मनमोहन! मुझे छेड़ने आवो।
मुसकाते मुखचन्द्र मनोरम लिये नयन मधुमाते,
मन्दिरमें मेरे तुम आकर करो सरस रस-बातें॥

(८)

जड-जंगममें दीख रहे तुम व्याप्त व्योममें तुम हो,
मन-प्राणोंमें तुम्हीं प्राणधन! रोम-रोममें तुम हो।
तो भी दृगको सुलभ तुम्हारी क्यों न हुई छबिछाया?
कैसा जादू ओ मायावी! कैसी है यह माया?

(९)

व्यथा-वेदना मेरी तुमसे जाकर कौन बताये?
कंठागत पागल प्राणोंको कौन आज समझाये?
क्या तुमसे है छिपा जगत्में बोलो घट-घटवासी!
जान जान अनजान हुए तुम बैठे बने उदासी।

(१०)

आज तुम्हारे लिये वृत्तियाँ अन्तरकी मचली हैं,
आज बिरहिणी तड़प रही ज्यों जल-विहीन मछली है।
आज मिलनकी तीव्र लालसा जाग उठी प्राणोंमें,
दृगमें पानी लिये प्रज्वलित आग उठी प्राणोंमें॥

वर्तमान विश्व-संकटके निवारणके लिये प्रार्थना और भगवन्नामका आश्रय आवश्यक

(नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

सारा जगत् आज अपने ही निर्माण किये साधनोंसे संत्रस्त और भयग्रस्त है तथा यह भय तबतक बढ़ता ही रहेगा एवं जगत्‌की क्रमशः अधःपातकी ओर अबाध गति बनी ही रहेगी, जबतक मानव अपने जीवनके परम लक्ष्य परमात्माको भूलकर भोगोंसे सुखकी आशा करता रहेगा। 'भगवान्' की ओर जीवनकी गति होनेपर जीवनमें परम साधन होता है—'त्याग', जो सर्वत्र 'प्रेम' तथा परिणामतः 'आनन्द' का विस्तार करता है। 'भोग' की ओर गति होनेपर उसका परम साधन होता है—'भोग-अर्जन और संग्रह', जो सर्वत्र द्वेष तथा परिणामतः दुःखका विस्तार करता है। लक्ष्यके अनुसार ही साधनका प्रयोग होता है। बिजलीके द्वारा हम चाहे सर्वत्र प्रकाश और सुखके साधनोंका विस्तार कर दें अथवा आग लगाकर या झटके देकर सबके विनाशका विस्तार कर दें। पैरोंसे या किसी भी वाहनसे चलकर हम देवमन्दिरमें पहुँच जायँ या पाप-कुण्डमें! आज संसारमें बाह्य प्रकृतिके नये-नये आविष्कारोंका प्रकाश और विज्ञानका विकास हो रहा है और इसपर लोगोंको बड़ा गर्व है। प्रकृतिगत पदार्थोंका आविष्कार और विज्ञान बुरी चीज नहीं है। जीवनका लक्ष्य 'भगवान्' होनेपर ये सभी साधन भगवान्‌के मङ्गलमय पथके सहायक बन सकते हैं, परंतु 'भोग' लक्ष्य हो जानेपर यही सब विनाशके साधन बन जाते हैं। इसीसे बाह्य प्रकृतिपर अपनेको विजयी माननेवाला मानव आज अन्तःप्रकृतिकी सहायतासे वञ्चित हो वासनाका दास बन गया है और तिलोत्तमाके मोहमें ग्रस्त सुरापान-प्रमत्त सहोदर भाई सुन्द-उपसुन्दके परस्पर विनाश करनेकी भाँति एक-दूसरेका विनाश करनेमें प्रवृत्त है। आजके विश्वव्यापी अन्तर्द्वेष और सर्व-विनाशकारी युद्धोंकी तैयारीका यही हेतु है। भोगकी वासनाने 'सर्वभूतात्म-भावना' को और 'सबमें भगवान् हैं'—इस सत्यको भुलाकर मनुष्यके स्वार्थको इतनी संकुचित सीमामें लाकर खड़ा कर दिया है कि जिससे एक ही सिद्धान्तके माननेवाले और अपनेको विश्वका परम हितकारी समझनेवाले लोग भी व्यक्तिगत स्वार्थवश एक-दूसरेके पतनमें सचेष्ट हैं और इसीमें अपनेको सफल जीवन मान रहे हैं। भोगवासनाने मनुष्यको इतना असहिष्णु और असंतोषपूर्ण बना दिया है कि वह रात-दिन अशान्तिकी आगमें जलता रहता है।

भारतवर्षकी संस्कृतिमें 'आत्म-साक्षात्कार' या 'भगवान्‌की प्राप्ति' जीवनका परम लक्ष्य माना गया है और 'गर्भाधान'से लेकर 'अन्त्येष्टि' तकके सारे संस्कार और गुरुकुल-प्रवेशसे लेकर मृत्युतकके जीवनकी सारी चेष्टाएँ इसी लक्ष्यकी पूर्तिके लिये की जाती रही हैं। पर आज भारतवर्ष भी अपने इस महान् लक्ष्यसे च्युत होता जा रहा है और इसीका परिणाम है—अशान्ति, दुःख और भाँति-भाँतिकी असंख्य नयी-नयी विपत्तियाँ, जो मिटानेकी चेष्टामें उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। एवं सबसे अधिक परितापका विषय तो यह है कि इस 'अधःपात'को ही 'उत्थान', 'अवनति'को 'उन्नति', 'विपरीत गति'को ही 'प्रगति' और 'विनाश'को ही 'विकास' माना जा रहा है और यह स्वाभाविक है कि जब भोग-वासनाओंसे अभिभूत होकर मनुष्य तमोगुणसे आक्रान्त हो जाता है, तब उसकी बुद्धिके सारे निर्णय विपरीत ही हुआ करते हैं। तमोऽभिभूत बुद्धिका लक्षण बताते हुए भगवान् कहते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १८। ३२)

बुद्धि जब तमोगुणसे आवृत हो जाती है, तब वह धर्मको अधर्म, पुण्यको पाप, कल्याणको अकल्याण मान लेती है और सभी वस्तुओंमें विपरीत निर्णय करती है। और यह निश्चित है कि तमोगुणी वृत्तिमें स्थित मनुष्योंका पतन होता है—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १४। १८)

इसीसे आज जो अन्तःप्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेका, लौकिक परम अभ्युदय और मानव-जीवनके परम लक्ष्य निःश्रेयसकी प्राप्तिका, विश्वकल्याण और विश्व-शान्तिका

एकमात्र साधन भगवदाश्रय है, उस परम साधनसे मुँह मोड़कर विकासके नामपर केवल भौतिक साधनोंकी सेवामें देश संलग्न हो रहा है। परिणाम तो प्रत्यक्ष ही है। अतः यदि भारतवर्षमें और अखिल विश्वमें यथार्थ सुख-शान्ति-वैभव-कल्याण आदिकी प्रतिष्ठा देखनी है, तो इस निरे भौतिक लक्ष्यका परित्याग करके समस्त भौतिक साधनोंको भगवान्‌की सेवामें लगा देना होगा और भगवान्‌का आश्रय करके भगवन्नाम और प्रार्थनाका सहारा लेना पड़ेगा।

आज देशमें अशान्ति है, दुर्भिक्ष है, पड़ोसी मित्र शत्रु बन रहे हैं, सर्वत्र आतङ्क छाया है, एक-दूसरेपर संदेहकी वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, विपत्तिके बादल मँडरा रहे हैं और कहीं-कहीं बरसने भी लगे हैं—इन सब आगत-अनागत उत्पात-उपद्रवसे बचना है तो उसका परम साधन है—'भगवान्‌का आश्रय करके भगवन्नाम और प्रार्थनाका अवलम्बन करना।' साथ ही, भगवान्‌के ही विभिन्न स्वरूप देवताओंका, जो विभिन्न कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रकट हैं, श्रद्धा-विधिपूर्वक आराधना करना। इस समय इस ओर प्रायः उदासीनता-सी देखी जाती है, जो बेसमझी तो है ही, महान् विपत्तिकी भूमिका भी है। अतएव विश्वके समस्त कल्याण-कामियोंसे, खास करके पवित्र भूमि भारतके निवासियोंसे, उनमें भी कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे विशेष निवेदन है कि वे निम्नलिखित साधनोंका—अनुष्ठानोंका यथासाध्य, यथारुचि, यथाधिकार आयोजन करें-करायें।

(१) हिंदू (वैदिक धर्मावलम्बी सनातनी, आर्यसमाजी तथा जैन, बौद्ध, सिक्ख एवं अन्यान्य समस्त हिंदूधर्म-सम्प्रदायी), मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सभी अपने-अपने धर्मानुसार निर्दोष भगवत्प्रार्थना, नाम-जप आदि करें।

(२) वेदाध्ययन, वेद-पारायण, धर्मग्रन्थ-पाठ, विष्णु-रुद्रयाग, गायत्री-पुरश्चरण, रुद्राभिषेक, रुद्रीपाठ, महामृत्युञ्जय-जप, पुराणपाठ आदिके अधिक-से-अधिक आयोजन हों।

(३) माता भगवतीकी प्रसन्नताके लिये नवचण्डी, शतचण्डी, सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी आदि अनुष्ठान हों। व्यक्तिगतरूपसे लोग अपने-अपने सुविधानुसार पाठ करें। नवार्णमन्त्रका जप करें, दुर्गानाम-जप करें-करायें। सम्पुटके मन्त्र इस प्रकार हैं—

(१) देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीते-
र्नित्यं यथासुरवधादधुनैव सद्यः।
पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु
उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान्॥

(२) शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(३) करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी
शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः।

(४) विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः॥

(५) सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(४) श्रीमद्भागवतके सप्ताह-पारायण अधिक-से-अधिक किये-कराये जायँ। वाल्मीकीय रामायणके नवाह्न-पारायण या सुन्दरकाण्डके पाठ किये-कराये जायँ। निम्नलिखित सम्पुट दिये जायँ तो अच्छा है—

श्रीमद्भागवतमें सम्पुट—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

वाल्मीकीय रामायणमें सम्पुट—

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

(५) श्रीरामचरितमानसके मासिक, नवाह, अखण्ड या यथारुचि यथासाध्य जिनसे जितना हो सके, पाठ करें-करायें। सम्पुटकी चौपाइयाँ निम्नलिखित हैं—

१-राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥
२-जपहिं जासु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
३-दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥
४-दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥
५-गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

(६) अपनी रुचि तथा श्रद्धाके अनुसार श्रीशंकरजीके

'नमः शिवाय', भगवान् विष्णुके 'हरिःशरणम्' और श्रीगणेशजीके 'गं गणपतये नमः' मन्त्रका जप करें-करायें। भगवन्नाम-कीर्तन अधिक-से-अधिक किया-कराया जाय।

(७) गौओंको चारा, घास, भूसा, दाना खिलाया जाय। गोवध-कानून सर्वथा बंद हो। गोचरभूमि सुरक्षित तो रहे ही और भी अधिक छोड़ी जाय। गोरक्षाकी ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

(८) गरीब, रोगी, दीन, बाढ़ तथा भूकम्पादिसे पीड़ित, विधवा स्त्री, अनाथ बालक, विद्यार्थी आदिकी सेवा-सहायता की जाय।

(९) जनतामें बढ़ती हुई मांसाहारकी प्रवृत्तिको छुड़ाया जाय। पशु-पक्षी-हिंसा-उद्योगों और नये-नये कसाईखानोंकी योजनाका तुरंत त्याग कर दिया जाय।

(१०) 'नारायण-कवच', 'अमोघ शिवकवच', 'श्रीशर्वेश्वरका शिव-कवच' और 'श्रीमहामृत्युञ्जय-कवच', 'संकटनाशन विष्णुस्तोत्र' अथवा 'उपमन्युकृत शिवस्तोत्र' का पाठ यथारुचि संस्कृत जाननेवाले लोग स्वयं करें तथा करायें। ये सर्वोपद्रवनाशक एवं बहुत लाभप्रद हैं।
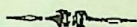
मानसमें संत-लक्षण-निरूपण

(डॉ० श्रीजगदीश्वरप्रसादजी एम्० ए०, डी० लिट्०)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसमें संतोंकी महिमाको विशेष महत्त्व दिया है और उनके लक्षणोंका निरूपण बड़ी तन्मयतासे किया है। आरम्भमें ही उन्होंने संत-वर्णनको विशेष महत्त्व देनेके कारणोंका उल्लेख किया है।

संत सभी प्रकारके सद्गुणोंका समवाय होता है। इनमें ऐसी चुम्बकीय शक्ति होती है कि इनके सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तिके स्वभावमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। असज्जनोंके सारे दुर्गुण उनके सम्मुख आते ही नष्ट हो जाते हैं और उसमें सोये हुए गुण सद्यः प्रस्फुटित हो उठते हैं। तुलसीदासजीने लिखा है कि कौवा कोयल बन जाता है और बगुला हंस। असज्जनके स्वभावमें परिवर्तन लानेका सबसे सरल उपाय सज्जनोंका संसर्ग है। वह चलता-फिरता तीर्थराज है, जो अपने सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंको पवित्र करता चलता है। इस तीर्थराजमें स्नान करनेवालेको शरीर रहते ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। वृत्तियोंके परिष्कृत हो जानेपर इनकी प्राप्ति दुर्लभ नहीं है।

सत्संगके प्रभावपर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये। वाल्मीकि, नारद और अगस्त्यमुनिके स्वभावमें क्रान्तिकारी परिवर्तनका कारण सत्संगति ही है। उन्होंने स्वयं अपने परिवर्तनका उल्लेख किया है। ऋषियोंके उपदेशसे वाल्मीकि 'मरा-मरा' जपकर डाकूसे महर्षि बन गये। नारद भी पिछले जन्मोंमें संतोंकी सेवासे देवर्षि बन गये और अगस्त्य भी सत्संगसे महर्षि बन गये। दुष्टोंका सज्जनोंके संगसे वैसे ही सुधार हो जाता है, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सोनेमें बदल जाता है। सत्संगति मनुष्यके सोये विवेकको जगा देती है, किंतु रामकी कृपाके बिना सत्संग भी नहीं मिलता। गोस्वामीजी सत्संगको महत्त्व देते हुए कहते हैं कि सभी धर्म-कर्म साधन हैं और सत्संगति सिद्धियोंकी भी परम सिद्धि है। सभी धर्म-कर्म तो पुष्प हैं, किंतु सत्संगति धर्म, अर्थ, काम आदिसे भी बड़ा सभी फलोंका फल है—

सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

(मानस १।३।८)

सज्जनता और दुर्जनता संत और असंतके स्वभावगत धर्म हैं। संसारमें अच्छे और बुरे दोनों प्रकारके पदार्थ पाये जाते हैं। यहाँ जड पदार्थ भी हैं और चेतन भी, अच्छे गुण भी हैं और बुरे भी। अच्छे और बुरे तत्त्व एक दूसरेसे संश्लिष्ट होकर अवस्थित हैं। यह मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर निर्भर करता है कि वह सद्गुण और दुर्गुण—दोनोंमेंसे किसे ग्रहण करे। संतमें विवेक-बुद्धि प्रबल होती है, इसलिये वह गुणरूपी दूधको दुर्गुणरूपी जलके विकारसे अलगकर ग्रहण करता है। जिसमें यह विवेक होता है वही गुणको दोषसे अलग कर सकता है, किंतु बिना सत्संगके भगवत्प्राप्ति-लक्षणात्मक विशुद्ध विवेक नहीं होता—***'बिनु सतसंग बिबेक न होई।'***

मनुष्यका लक्ष्य अपनेमें सोये सद्गुणोंको जगाना होना

चाहिये। वह जैसी संगतिमें बैठता है, उसका स्वभाव वैसा ही हो जाता है। धूलि पवनके संसर्गसे आकाशमें पहुँच जाती है और वही नीच जलके साथ नीचे बहकर कीचड़ बन जाती है। साधुके घरमें रहनेवाला सुग्गा 'राम'का नाम लेता है और असाधुके घरमें रहनेवाला गिन-गिनकर गालियाँ देता है। धूम कुसंगतिमें पड़कर कालिख हो जाता है और अच्छी संगतिमें स्याही बन जाता है, जिससे वेद, पुराणादि ग्रन्थ लिखे जाते हैं। वही धूम जल, वायु और अग्निके संसर्गसे संसारको जीवन प्रदान करनेवाला मेघ बन जाता है। केवल मनुष्य ही नहीं, अन्य जड पदार्थ अच्छी और बुरी संगति पाकर अच्छे और बुरे हो जाते हैं। ग्रह, औषध, जल, पवन और वस्त्र भी अच्छी और बुरी संगति पाकर अच्छे तथा बुरे हो जाते हैं। तुलसीदासने संत और असंत दोनोंके लक्षण विस्तारपूर्वक इसलिये लिखे हैं कि बिना स्वरूपको अच्छी तरह समझे उसका ग्रहण और त्याग सम्भव नहीं—'***संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।***'

संत सत्-ज्ञानके पुञ्ज और चलते-फिरते तीर्थराजके समान हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म संत-समाजमें समन्वित-रूपमें विद्यमान रहते हैं। उनमें रामभक्ति गङ्गाके समान, ब्रह्मज्ञान सरस्वतीके समान और विधि-निषेधमय धर्म-कर्मकी चर्चा यमुनाके समान प्रवाहित होती रहती है। समस्त कल्याणोंको प्रदान करनेवाले भगवान् शिव और विष्णुकी कथाएँ वहाँ त्रिवेणीके समान सुशोभित होती रहती हैं और संतत्वरूपी धर्ममें दृढ़ विश्वास संत-समाजरूपी तीर्थराजका अक्षयवट है। कोई भी श्रद्धालु व्यक्ति इसमें स्नानकर तत्क्षण ही पवित्र हो जाता है।

संत सभीको समान-दृष्टिसे देखते हैं, किसीके प्रति भेद-भाव नहीं करते। मित्र और शत्रु दोनोंकी वे समानरूपसे कल्याण-कामना करते हैं। अञ्जलिमें रखे फूलके समान वे अपने तोड़नेवाले और रखनेवाले दोनों हाथोंको सुवासित कर देते हैं।

अरण्यकाण्डमें नारदजीको तथा उत्तरकाण्डमें भरतको भगवान् श्रीरामने संतोंके लक्षणका विस्तारसे उपदेश किया है। परोपकारिता उनका स्वभावगत धर्म है। कुठार और चन्दनका उदाहरण देते हुए श्रीतुलसीदासजीने स्पष्ट किया है कि संत अहित करनेवालेका भी उपकार ही करते हैं, जैसे चन्दनका वृक्ष अपने काटनेवाले कुठारको सुगन्धसे भर देता है।

परदुःखकातरता संतका स्वभाव है। दूसरेका कष्ट देखकर वे स्वयं द्रवित हो उठते हैं। चमत्कारपूर्ण शब्दोंमें गोस्वामीजीने कहा है कि कवियोंने संतके हृदयको नवनीतके समान कहा है, किंतु उनकी यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि उनका हृदय तो नवनीतसे भी अधिक कोमल होता है। नवनीत तो अपने तापसे द्रवित होता है, किंतु संतका हृदय दूसरेका ताप देखकर ही पिघल जाता है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(मानस ७। १२५। ७-८)

पक्षिराज गरुड़ काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं कि संत, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वीका स्वभाव ही दूसरोंका कल्याण करना है—

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥

(मानस ७। १२५। ६)

कृपालु संत भोजपत्रके समान परहितके लिये महान्-से-महान् कष्ट सहते हैं—

भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥

(मानस ७। १२१। १६)

संतोंके कुछ अन्य गुण हैं—विषयोंसे विरति, शील-सम्पन्न होना; दूसरेके दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होना; समत्व-बुद्धि रखना; किसीसे शत्रुता न करना; मदसे रहित होना; लोभ, क्रोध, हर्ष और भयका त्याग करना तथा चित्तकी कोमलता एवं दीनोंपर दया; मन, वचन और कर्मसे भगवान्की निष्कपट भक्ति; सभीको मान देना और स्वयं मानरहित होना तथा कामसे रहित होना; भगवान्के नाम-जपमें आसक्ति; शान्ति, वैराग्य, विनय, प्रसन्नता, शीतलता, सरलता; सभीके प्रति मैत्री; शम, दम, नियमका पालन; नीतिसे कभी भी विचलित न होना और किसीके प्रति कभी कठोर वचन नहीं बोलना—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥

सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

(मानस ७। ३८। १-८)

—ये सब गुण जिनमें हों वे संत हैं। ऐसे संत निन्दा और स्तुति दोनोंमें समान होते हैं और भगवान्‌के चरण-कमलोंमें प्रेम करते हैं।

वस्तुतः संतके गुणोंकी इयत्ता नहीं है। उनके गुणोंकी संख्या ऊपर गिनाये गये गुणोंतक ही सीमित नहीं है। कोई ऐसा सद्‌गुण नहीं जो संतमें वर्तमान न रहे। किंतु परदुःखकातरता, परोपकारिता, सुख-दुःखमें तुल्य-दृष्टि तथा चित्तकी कोमलता संतके सर्वप्रमुख गुण हैं। ऐसे ही संत भगवान्‌के प्रिय होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायमें ऐसे ही भगवान्‌के प्रिय भक्तों एवं संतोंके लक्षणोंका वर्णन किया गया है। ऐसा व्यक्ति किसीसे द्वेष नहीं करता, सभीके प्रति मित्रता एवं करुणा-भाव रखता है। वह समता और अहंकाररहित, दुःख और सुखमें समान रहनेवाला, अपकारियोंको भी क्षमा कर देनेवाला, सभी स्थितियोंमें संतुष्ट रहनेवाला, अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, दृढ़निश्चयी तथा मन और बुद्धिपर नियन्त्रण रखनेवाला होता है। न उससे संसार उद्विग्न होता है और न वह संसारसे उद्विग्न होता है। वह हर्ष, अमर्ष, भय आदि सभी प्रकारके उद्वेगोंसे मुक्त होता है। उसे किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती और वह सभी प्रकारके कर्तृत्व-भावका त्याग कर देता है। वह सभी प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित, शत्रु और मित्रके प्रति एक ही प्रकारका आचरण करनेवाला, मान और अपमानमें तुल्य-दृष्टि रखनेवाला होता है।

संत शब्द 'अस्' धातुसे बना है। जो उस सत्-तत्त्वकी परम सत्ताका ज्ञापक है, जिसपर संसारका अस्तित्व निर्भर करता है। अतः संत वह है जिसने उस परम तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया हो और इस प्रकार सभी प्रकारकी सांसारिक आसक्तियोंसे ऊपर उठ गया हो। जिसकी मन-बुद्धि और सभी इन्द्रियाँ निरन्तर भगवान्‌में ही लगी रहती हैं, उसका भजन करनेका ही स्वभाव बन जाता है। सभी प्राणियोंमें परमात्माकी छबि देखता हुआ वह सभीमें ऐक्यकी अनुभूति करता है। गोस्वामीजीने इस ऐक्यका अनुभव किया तथा वे राग और द्वेषकी भावनासे ऊपर उठे हुए थे। संत और उनकी बुराईमें लगे असंत भी उनके लिये वन्दनीय हैं, क्योंकि संसारकी सभी वस्तुओंको वे सीता-राममय देखते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें कहा गया है कि संत तीर्थ-स्थलोंसे भी अधिक पवित्र हैं। तीर्थस्थलोंमें जानेके बहाने वे उसे ही पवित्र करते हैं—

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः।

(श्रीमद्भा० १। १९। ८)

भर्तृहरिने 'नीतिशतक' में संतोंके गुणोंकी विस्तृत चर्चा की है। कबीर, दादू आदि संतोंने भी संतोंके गुणोंका वर्णन किया है। वैसे साधकके लिये योगी, भक्त, विरक्त, उपदेष्टा, महात्मा आदि बनना भी कम कठिन नहीं है, किंतु विशुद्ध संत होना सबसे कठिन है। इसीलिये साक्षात् भगवान् श्रीराम शबरीसे कहते हैं—

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

—भाव यह कि सदा, सर्वत्र समभावसे एकमात्र परमात्माका दर्शन करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है, वह तो बहुत जन्मोंकी शुद्ध साधनाका फल है, किंतु भगवान् रामके शब्दोंमें संत साक्षात् भगवान्‌से भी ऊपर मानने योग्य हैं।

इसलिये कल्याणकामीको जैसे-तैसे संत बननेका ही प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि भगवान्‌की सर्वाधिक कृपा ऐसे संतोंपर ही होती है। श्रीमद्भागवत (११। १४। १६) में भी भगवान् कहते हैं—जो निरपेक्ष, शान्त तथा निर्वैर एवं समदर्शी हैं ऐसे संतोंके पीछे-पीछे मैं इसलिये चलता-फिरता हूँ जिससे उनकी चरणधूलिसे मैं पवित्र हो जाऊँ—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

साधकोंके प्रति—

सत्-असत्‌का विवेक

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२।१६)

'असत्'का भाव विद्यमान नहीं है और 'सत्'का अभाव विद्यमान नहीं है।'

इस श्लोकार्धमें तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

१-'**भू सत्तायाम्**'—जैसे, '**अभावः**' और '**भावः**'।

२-'**अस् भुवि**'—जैसे, '**असतः**' और '**सतः**'।

३-'**विद सत्तायाम्**'—जैसे, '**विद्यते**' और '**न विद्यते**'।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक (सत्ता) ही है, तथापि सूक्ष्मरूपसे ये तीनों अपना अलग अर्थ भी रखते हैं; जैसे—'**भू**' धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, '**अस्**' धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और '**विद**' धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानमें सत्ता) है।

'**नासतो विद्यते भावः**' पदोंका अर्थ है—'**असतः भावः न विद्यते**' अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षणमें अभाव है, उसका सदा अभाव ही है। अतः संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितना ही महत्त्व दें, उसको कितना ही ऊँचा मानें, उसका कितना ही सहारा लें, उसकी कितनी ही गरज करें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं। असत् कभी प्राप्त हुआ ही नहीं। असत् कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्‌का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सतः**' पदोंका अर्थ है—'**सतः अभावः न विद्यते**' अर्थात् सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। दूसरे शब्दोंमें, सत्‌की सत्ता सदा विद्यमान है। सत् सदा वर्तमान है। सत् सदा उपस्थित है। सत् सदा प्राप्त है। सत् सदा मिला हुआ है। सत् सदा मौजूद है। सत् सदा कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें सत्‌का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल आदि तो असत् (अभावरूप) हैं, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्‌का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्‌का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्‌का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥**' (गीता २।१७)।

जैसे, नदी निरन्तर बहती है, एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रहती। परंतु वह जिस आधारशिलाके ऊपर बहती है, वह शिला निरन्तर स्थिर रहती है, एक इंच भी आगे बहकर नहीं जाती। नदीमें कभी स्वच्छ जल आता है, कभी कूड़ा-कचरा आता है, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई मनुष्य तैरता हुआ आ जाता है; परंतु शिलामें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-की-त्यों अपनी जगह स्थित रहती है। तात्पर्य है कि जो निरन्तर बहता है, वह 'असत्' है और उसका भाव (होनापन) विद्यमान नहीं है एवं जो निरन्तर रहता है, वह 'सत्' है और उसका अभाव (न होनापन) विद्यमान नहीं है।

भगवान् कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २।६९)

'सभी मनुष्योंकी जो रात है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं, वह तत्त्वको

जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है।'

सांसारिक मनुष्य रात-दिन भोग और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, उनको ही महत्ता देते हैं, सांसारिक कार्योंमें बड़े सावधान और निपुण होते हैं, तरह-तरहके कला-कौशल सीखते हैं, लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानते हैं, सांसारिक पदार्थोंकी बड़ी महिमा गाते हैं, सदा जीवित रहकर सुख भोगनेके लिये बड़ी-बड़ी तपस्या करते हैं, देवताओंकी उपासना करते हैं, मन्त्र-जप करते हैं। परंतु जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष तथा सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह बिलकुल रात है, अन्धकार है, उसका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है। कारण कि उनकी दृष्टिमें ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार विद्यमान है ही नहीं* ।

जैसा है, वैसा अनुभव करनेका नाम 'ज्ञान' है और जैसा है ही नहीं, उसको 'है' मान लेनेका नाम 'अज्ञान' है। जिनको असत्के अभावका और सत्के भावका अनुभव हो गया है, वे तत्त्वज्ञानी हैं, जीवन्मुक्त हैं, विदेह हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, गुणातीत हैं, भगवत्प्रेमी हैं, वैष्णव हैं। परंतु जो असत्का भाव और सत्का अभाव मानते हैं, असत्को प्राप्त और सत्को अप्राप्त मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, बेसमझ हैं, विपरीत बुद्धिवाले हैं।

भगवान् कहते हैं—

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २। १६)

असत्का अभाव और सत्का भाव—दोनोंके तत्त्व (निष्कर्ष) को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं† । तात्पर्य है कि असत्का तत्त्व भी सत् है और सत्का तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व एक 'सत्' ही है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व—'है' के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्का भाव सिद्ध हुआ और सत्का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत् ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। सत्के सिवाय और कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं तथा होनेकी सम्भावना ही नहीं।

विभूतियोंकी विस्मृति

(श्रीमती सावित्री अरोड़ा)

यह सम्पूर्ण विश्व भगवदीय शक्तिसे परिव्याप्त है। चराचर जो भी प्राणी हैं, सबमें भगवान्का अधिष्ठान है, अतः यह अखिल जगत् भी भगवत्स्वरूप ही है। यद्यपि सभी वस्तुएँ एवं प्राणिपदार्थ उन्हींकी विभूति हैं तथापि जिनमें भगवान्के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति आदिका विशेष विकास रहता है, वे भगवान्की विशिष्ट विभूतियाँ या दिव्य विभूतियाँ कहलाती हैं।

सामान्य रूपसे विभूति उस व्यक्ति अथवा वस्तुको कहते हैं जो अपने सधर्मी व्यक्तियों—वस्तुओंमें सर्वश्रेष्ठ हो, उसमें कोई दिव्य अथवा अलौकिक शक्ति हो, वह सुख-समृद्धिका दाता हो, उसमें अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठों सिद्धियाँ निहित हों, उसकी महत्ताको विज्ञजनोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया हो आदि-आदि। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अपनी विशिष्ट विभूतियोंका उल्लेख किया है, जिनमें पीपलके वृक्षकी भी गणना की गयी है—'**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्।**' (१०। २६)।

भारतीय सनातन आर्य-संस्कृति-परम्परामें सदासे इन देव-विभूतियोंका पूजन, अर्चन आदि होता आया है, इनके प्रति आदर, श्रद्धा एवं नमनका भाव रहा है और इनसे जगत्का कल्याण भी होता रहा है। नदी, जलाशय, पर्वत, वनस्पति, गौ, ब्राह्मण, तुलसी, पीपल, आँवला आदि श्रेष्ठ वृक्ष प्रत्येक आस्तिकके लिये सदासे पूजनीय, नमनीय एवं

* आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। (गीता ८। १६)

† 'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—देखना और अनुभव करना (जानना)—'पश्यार्थैश्चानालोचने' (पाणि० अष्टा० ८। १। २५)।

वन्दनीय रहे हैं। प्राणिमात्रके उत्तम जीवन एवं सुख-समृद्धिके ये आश्रय-स्थान भी हैं, किंतु आज इस देशमें अंग्रेजी-शिक्षाके प्रभावसे वृक्षों, गौओं, नदियों आदिके पूजनको हमारे भारतवासियोंकी एक बड़ी संख्याने अन्धविश्वास और मूर्खता मानकर इनमें आस्था रखनेवालोंकी खिल्ली उड़ाना प्रारम्भ किया है, जिसके फलस्वरूप अब उन लोगोंकी संख्या भी कम-सी होने लगी है, जो इन विभूतियोंके प्रति अगाध स्नेह एवं श्रद्धा रखते थे; यह बड़े ही दुःखका विषय है।

यद्यपि इधर कुछ वर्षोंसे वन-महोत्सव, वृक्षारोपण तथा नदियोंके प्रदूषणको कम करनेकी ओर ध्यान दिया जा रहा है, किंतु यह इस समस्याका अन्तिम समाधान नहीं है, इससे जनमानसमें इस दिशाकी ओर वह सक्रियता आ सकना अत्यधिक कठिन है, जैसी कि पूज्य-भावनासे सभी लोग पीपल, बरगद, आँवला आदिके वृक्षोंको काटना—नष्ट करना पाप समझते थे और स्त्रियाँ फल-पुष्प, अक्षत, धूप-दीप आदिसे इन वृक्षोंका पूजन करती थीं, प्रदक्षिणा करती थीं, जिसके कारण बच्चोंमें भी इनके प्रति श्रद्धा एवं आस्थाभाव रोम-रोममें समा जाता था, मन-मस्तिष्कपर स्थायी संस्कार पड़ते थे। यही उपाय इस समस्याके निदानका मूलभूत हेतु है।

गीता-जैसे मूल्यवान् ग्रन्थमें भगवान् श्रीकृष्णने पीपलके वृक्षको अपनी विभूति कहा है तो इसका कारण क्या है? इसमें ऐसे कौन-से गुण हैं जो प्रकृतिभरके अनन्त प्रकारके वृक्षोंमें यही सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। मनुस्मृतिमें वटवृक्षको सर्वाधिक महत्त्व क्यों दिया गया है? वेदोंमें बरगद-पीपल आदि देवतरुओंका श्रेष्ठ प्रभावी वर्णन क्यों है? वटवृक्ष, जिसे न केवल घर-घर पूजा जाता था, प्रत्युत सभी गुरुकुलों एवं ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें उसे प्रमुख स्थान प्राप्त था। ध्रुवको इसी वृक्षके नीचे तपस्या करनेपर भगवान्के दर्शन हुए थे। व्यापारिक दृष्टिसे पीपल, बरगद आदि विशेष लाभदायक नहीं हैं—न फूल, न फल, न इमारती लकड़ी—फिर भी चरक, सुश्रुत, धन्वन्तरि, अग्निवेश, वाग्भट आदि आचार्योंने इनके गुणोंकी मुक्तकण्ठ-प्रशंसासे अपने ग्रन्थ क्यों भर डाले? तथा इन्हें काटना भारी पाप क्यों बताया? हमारे श्रेष्ठ विचारवान् ऋषि-मुनियों एवं आचार्योंके इस प्रकारके चिन्तनका रहस्य क्या है? गौतन बुद्धने बुद्धत्व प्राप्त करने-हेतु अपने मनन-चिन्तनके लिये समाधि लगानेका स्थान पीपल वृक्षके नीचे ही क्यों चुना तथा बौद्धलोग आज भी इसे इतना पवित्र क्यों मानते हैं? और तभीसे यह बोधिद्रुम भी कहा जाने लगा। हिन्दूलोग अपने प्रियजनकी मृत्युपर दाह-संस्कार करके उनकी अस्थियोंको कलशमें भरकर पीपलके ही वृक्षपर तबतकके लिये क्यों लटकाते हैं, जबतक कि किसी तीर्थ-स्थानपर उनके विसर्जनकी व्यवस्था नहीं कर लेते?

वास्तवमें पीपल-बरगद, गूलर, आम, आँवला, तुलसी, केला आदिके असीमित गुण एवं मानव-जीवनके लिये उनकी अत्यन्त कल्याणकारी उपयोगिता कोई छिपी बात नहीं है, केवल हमारा अज्ञान और अंग्रेजी-शिक्षासे उत्पन्न दासताका परिणाम ही इनकी उपेक्षामें हेतु है। अन्यथा हमारे आचार्योंने सहस्राब्दियों-पूर्व ही इनके गुणोंका सूक्ष्म अध्ययन करके इनकी अत्यन्त श्रेष्ठ उपादेयताको वेदादि शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों तथा चरक आदि संहिताओंमें विस्तारसे प्रतिपादित किया है, इस ओर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। यहाँ तो संक्षेपमें पीपल वृक्षकी उपादेयता तथा महिमापर कुछ विचार किया जा रहा है।

पुराणोंमें अश्वत्थ—पीपल वृक्षकी बड़ी महिमा गायी गयी है। स्कन्दपुराणके अनुसार अश्वत्थ वृक्षके मूलमें विष्णु, तनेमें केशव, शाखाओंमें नारायण, पत्तोंमें भगवान् श्रीहरि और फलोंमें सभी देवताओंसे युक्त अच्युत भगवान् सदा निवास करते हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं। यह वृक्ष मूर्तिमान् श्रीविष्णुस्वरूप है। महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं। इसका आश्रय करना मनुष्योंके सहस्रों पापोंका नाशक तथा सभी अभीष्टोंका साधक है[1]। अश्वत्थ वृक्षके रोपणका भी अद्भुत माहात्म्य है। कहा गया है कि अश्वत्थ

१-मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च। नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान् हरिः॥
फलेऽच्युतो न संदेहः सर्वदेवैः समन्वितः।
स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः। यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः॥
(स्कन्द० नागर० २४७। ४१-४२, ४४)

वृक्षका रोपण करनेवाले व्यक्तिकी वंशपरम्परा कभी समाप्त नहीं होती, अपितु अक्षय रहती है। इसके आरोपणसे समस्त ऐश्वर्य एवं दीर्घायुकी प्राप्ति होती है तथा पितृगण नरकसे छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं—

अश्वत्थः स्थापितो येन तत्कुलं स्थापितं ततः।
धनायुषां समृद्धिस्तु पितॄन् क्लेशात् समुद्धरेत्॥

इसके अतिरिक्त वैद्यक-ग्रन्थोंमें भी पीपलकी बड़ी महिमा है—इसके पत्ते, फल, छाल सभी रोगनाशक हैं। रक्तविकार, कफ, वात, पित्त, दाह, वमन, शोथ, अरुचि, विषदोष, खाँसी, विषम-ज्वर, हिचकी, उरःक्षत, नासारोग, विसर्प, क्रिमि, कुष्ठ, त्वचा-व्रण तथा अग्निदग्धव्रण आदि अनेक रोगोंमें इसका उपयोग होता है।

पीपल शुद्धतम वायु विकीर्ण करता है, जिसमें मनुष्यकी प्राणवायुको शुद्ध एवं पुष्ट करनेका दिव्य गुण निहित है। इसके आस-पासकी वायुके प्रभावसे न केवल वातावरण ही शुद्ध रहता है, अपितु मनुष्यमें सद्विचारों एवं सद्भावनाओंका उद्रेक भी होता है, मन-मस्तिष्कको शान्ति प्राप्त होती है, ज्ञानकी अभिवृद्धि होती है। भारतीय प्राचीन श्रेष्ठतम साहित्यका सृजन-अर्जन इन्हीं वृक्षोंके नीचे चिन्तन-मनन करते हुए हुआ था। कहा जाता है, यदि पीपलकी पत्तियाँ हाथीको पाँच-छः दिनोंतक खानेको न मिलें तो वह उन्मत्त-सा हो जाता है। पुनः ऐसे उन्मत्त हाथीको पीपलकी पत्तियाँ खिलाकर ही ठीक किया जाता है। दाह-संस्कारके बाद मृत व्यक्तिकी अस्थियोंको कलशमें रखकर पीपलके ही वृक्षमें इसलिये लटकाया जाता है कि वह वृक्ष भूत-बाधानाशक है, कोई प्रेतात्मा निकट नहीं आ सकती, क्योंकि पीपलमें साक्षात् हरि स्वयं निवास करते हैं। इसी प्रकार वटवृक्षका व्रत-पूजन करके देवी सावित्री अपने पति सत्यवान्‌के प्राण लौटा लायी थी और यमराजसे उसने अनेक दुर्लभ वर प्राप्त किये थे।

पीपल-बरगद आदि वृक्ष प्राकृतिक संतुलन बनाये रखनेके श्रेष्ठतम सरल साधन हैं। इनके वृक्ष जलभरी हवाओंको सबसे अधिक तथा दूरसे आकृष्ट करते हैं, इनकी जड़ें दूर-दूरतक मिट्टी तथा अन्य छोटे वृक्षोंकी जड़ोंको अपनेमें परिवेष्टित किये रखती हैं, ये जड़ें अपने जालमें वर्षाके जलको देरतक रोके रखती हैं एवं अपने ओषधीय गुणोंके कारण जमीनके जलका प्रदूषण मिटाकर फिल्टरका कार्य करते हुए निर्मल जलको धीरे-धीरे उपलब्ध कराती हैं, नदी एवं जलाशयके तटोंको जलके प्रवाहसे कटने और बाढ़के उपद्रवको फैलनेसे रोकती हैं, भूस्खलन रोकती हैं। ये वृक्ष स्वयं उखड़कर न शीघ्र गिरते हैं न शीघ्र क्षीण होते हैं। रोपण, सिंचन-संरक्षणका अधिक कष्ट नहीं देते, दीर्घायु होते हैं तथा जीवोंको भी दीर्घायु बनाते हैं।

आजकल जो वृक्षारोपण (एफारेस्टेशन) अभियान चलाये जा रहे हैं, उनमें पीपल, बरगद आदि श्रेष्ठ एवं जनोपयोगी वृक्षोंको लगाये जानेकी चर्चा भी प्रायः सुननेमें नहीं आती, यह विडम्बना ही है। इन वृक्षोंकी उपेक्षाके जो दुष्परिणाम हैं, वे भी सामने ही हैं। आज इस बातकी अत्यन्त आवश्यकता है कि हम इन देववृक्षोंके प्रति श्रद्धा-भाव रखें, वृक्षारोपण आदिमें इन्हें प्रमुख स्थान दें और इससे जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, बाढ़, भूस्खलन, सूखा आदिसे सस्तेमें बचाव करके प्राकृतिक संतुलनमें महत्त्वपूर्ण योगदान करें, यह तो हुई भौतिक लाभकी बात। किंतु जो इनके प्रति आदर-भाव होगा, उससे तो अनायास ही पारलौकिक लाभ भी प्राप्त हो जायगा और जीवन सफल हो जायगा।

रामकी शरण

(श्रीसुभाषचन्द्रजी सचदेव)

जब ते सरन रामकी लीनी।
भोग विलास लालसा नासी, सुमति विमल प्रभु दीनी।
राखो नाथ हाथ सेवक पे, मैं सब बिधि गुण हीनी॥
बंदौं चरण कमल नित हरिके, जिन दुरमति सब छीनी।
दास 'सुभास' कहाँ लौं कहिये, अमित दया प्रभु कीनी॥

श्राद्धकी अनिवार्यता

(श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्०काम्०, एम्०ए०, साहित्यरत्न, धर्मरत्न)

'श्रद्धया पितॄन् उद्दिश्य विधिना क्रियते यत्कर्म तत् श्राद्धम्' अर्थात् अपने मृत पितृगणके लिये श्रद्धाके साथ किये जानेवाले कर्म-विशेषको 'श्राद्ध' कहते हैं। इसे ही पितृयज्ञ भी कहते हैं। जिनका जिसका मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों एवं हारलता, श्राद्ध-कल्पलता और पितृदयिता आदि अनेक श्राद्ध-ग्रन्थोंमें हुआ है। मन्त्र और योगके प्रभावसे विश्वेदेवगण ही इन्हें यथास्थान पहुँचाते रहते हैं, अतः श्राद्धके आरम्भमें ही उनकी पूजा होती है।

वर्तमान कालमें कुछ नास्तिक-भावके लोग, जिन्हें परमेश्वर, परलोक एवं अदृष्ट आदिपर विश्वास नहीं है, वे श्राद्धको व्यर्थ समझकर उसे नहीं करते। जो बुद्धिजीवी श्राद्ध करते हैं, उनमें कुछ तो यथानियम एवं सविधि श्रद्धाके साथ श्राद्ध करते हैं, परंतु अधिकांश लोग तो मात्र रीति-रिवाजको ध्यानमें रखते हुए ही श्राद्ध करते हैं। वास्तवमें शास्त्रोक्त-विधिसे श्रद्धा-भक्तिके साथ किया हुआ श्राद्ध ही सर्वथा कल्याणकारी सिद्ध होता है। अतः मनुष्योंद्वारा श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त समस्त श्राद्धोंको यथासमय करते रहना चाहिये। आश्विन मासके कृष्ण-पक्षको 'पितृपक्ष' कहते हैं। इस पक्षमें तो अवश्य ही अपने मृत पितृगणोंकी मृत्यु-तिथिके दिन श्राद्ध करना चाहिये।

पितृगणोंका सम्बन्ध पितृपक्षके साथ विशेषरूपसे जुड़ा होता है। शास्त्रोंमें पितृपक्षमें श्राद्ध करनेका विशेष महत्त्व बतलाया गया है। महर्षि जाबालिके मतानुसार—

पुत्रानायुस्तथारोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा।
प्राप्नोति पञ्चमे कृत्वा श्राद्धं कामांश्च पुष्कलान्॥

अर्थात् 'पितृपक्षमें श्राद्ध करनेसे पुत्र, आयु, आरोग्य, अतुल ऐश्वर्य एवं अभिलषित पदार्थोंकी उपलब्धि होती है।'

'जो मनुष्य दुर्बुद्धिवश पितृलोक या पितृगणको न मानकर श्राद्ध नहीं करता उसके पितृगण उसका ही रक्त पान करते हैं।' यथा—

न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥

(आदित्यपुराण)

'जो प्राणी जिस-किसी भी विधिसे एकाग्रचित्त होकर श्राद्ध करता है, वह सभी पापोंसे रहित होकर मुक्तिको प्राप्त होता है तथा फिर संसारचक्रमें नहीं आता।' यथा—

यो येन विधिना श्राद्धं कुयदिकाग्रमानसः।
व्यपेतकल्मषो नित्यं याति नावर्तते पुनः॥

(कूर्मपुराण)

अतः प्राणीको पितृगणकी संतुष्टि एवं अपने हितके लिये श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इस जगत्‌में श्राद्ध करनेवालेके लिये श्राद्धसे श्रेष्ठ कोई अन्य उपाय कल्याणकारक नहीं है। इस तथ्यकी पुष्टि महर्षि सुमन्तुद्वारा भी की गयी है—

श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः॥

अर्थात् 'इस जगत्‌में श्राद्धसे श्रेष्ठ और कोई अन्य कल्याणप्रद उपाय नहीं है। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको यत्नपूर्वक श्राद्ध करना चाहिये।'

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

(गरुडपुराण)

अर्थात् 'श्राद्धकर्म (पितृपूजन) से संतुष्ट होकर पितर मनुष्योंके लिये आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि, बल, वैभव, पशु, सुख, धन एवं धान्य देते हैं।'

पितरोंकी भक्ति करनेसे आयुमें वृद्धि, पुष्टि, वीर्य एवं लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। यथा—

पुष्टिरायुस्तथा वीर्यं श्रीश्चैव पितृभक्तितः।

(महा० अनुशासन)

श्राद्ध करनेसे श्राद्धकर्ता आवागमनके बन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥

(मार्कण्डेयपुराण)

अर्थात् 'श्राद्धसे संतुष्ट होकर पितृगण श्राद्धकर्ताको दीर्घ आयु, संतति, धन, विद्या, राज्य, सुख, स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करते हैं।'

यो वै श्राद्धं नरः कुर्यादेकस्मिन्नपि वासरे।
तस्य संवत्सरं यावत् संतृप्ताः पितरो ध्रुवम्॥

(हेमाद्रि स्कन्दपुराण, नागरखण्ड)

'जो मनुष्य एक दिन भी श्राद्ध करता है, उसके पितृगण वर्षपर्यन्तके लिये संतुष्ट हो जाते हैं—यह सुनिश्चित है।'

इस तथ्यका भी उल्लेख मिलता है कि श्राद्धसे प्रसन्न एवं संतुष्ट होकर पितृगण लोक एवं परलोक—दोनोंमें सफलताके लिये सहायक सिद्ध होते हैं।

अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्रपौत्रवान्।
अर्थवानर्थयोगी च श्राद्धकामो भवेदिह॥
परत्र च परां तुष्टिं लोकांश्च विविधान् शुभान्।
श्राद्धकृत् समवाप्नोति श्रियं च विपुलां नरः॥

(देवलस्मृति)

श्राद्धकी इच्छा करनेवाला मानव इस लोकमें नीरोग, स्वस्थ, चिरायु, पुत्र-पौत्रवाला, धनोपार्जक तथा धनी होता है तथा श्राद्ध करनेवाला प्राणी परलोकमें विविध शुभ लोकोंको प्राप्त होता है एवं उसे परम संतोष मिलता है तथा अधिक लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।

पुत्रो वा भ्रातरो वापि दौहित्रः पौत्रकस्तथा।
पितृकार्यप्रसक्ता ये ते यान्ति परमां गतिम्॥

(अत्रिसंहिता)

'पितृकार्य (श्राद्धानुष्ठान) में संलग्न रहनेवाले पुत्र, भ्राता, दौहित्र अथवा पौत्र आदि निश्चय ही परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्मपुराणमें प्रतिपदासे लेकर अमावास्यातक श्राद्ध करनेके पृथक्-पृथक् फल बतलाये गये हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मपुराणमें इस बातका उल्लेख मिलता है कि भिन्न-भिन्न नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेसे भिन्न-भिन्न फलोंकी प्राप्ति होती है।

भविष्यपुराणमें बारह प्रकारके श्राद्धोंका उल्लेख किया गया है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डनम्।
पार्वणं चेति विज्ञेयं गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम्॥
कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम्।
यात्रास्वेकादशं प्रोक्तं पुष्ट्यर्थं द्वादशं स्मृतम्॥

'नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि, सपिण्डन, पार्वण, गोष्ठी, शुद्ध्यर्थ, कर्माङ्ग, दैविक, यात्रार्थ एवं पुष्ट्यर्थ—ये बारह प्रकारके श्राद्ध बतलाये गये हैं।'

प्रतिदिन नियमितरूपसे किये जानेवाले श्राद्धको 'नित्यश्राद्ध', एकोद्दिष्ट प्रभृति श्राद्धको 'नैमित्तिक' तथा स्वाभिलषित कार्यसिद्ध्यर्थ किये जानेवाले श्राद्धको 'काम्य-श्राद्ध' कहते हैं। वृद्धिकाल (जैसे—पुत्र-जन्म, विवाह आदि) में जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'वृद्धि-श्राद्ध' कहते हैं। अमावास्या तिथिमें या पर्वकालमें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'पार्वण-श्राद्ध' कहते हैं। जिस श्राद्धमें प्रेत-पिण्डका पितृपिण्डोंमें सम्मेलन किया जाय, उसे 'सपिण्डन-श्राद्ध', गोशालामें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'गोष्ठी-श्राद्ध', शुद्धिके निमित्त जिस श्राद्धमें ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाता है, उसे 'शुद्धि-श्राद्ध' कहते हैं। गर्भाधानमें, सोमरस-पानमें और सीमन्तोन्नयनमें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'कर्माङ्ग-श्राद्ध', सप्तम्यादि तिथियोंमें विशिष्ट हविष्यके द्वारा देववृन्दके उद्देश्यसे जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'दैविक-श्राद्ध', तीर्थाटनके उद्देश्यसे देशान्तर जानेके समय घृतद्वारा जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'यात्रार्थ-श्राद्ध' और आर्थिक तथा शारीरिक उन्नतिके लिये जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'पुष्ट्यर्थ-श्राद्ध' कहा जाता है।'

जो प्राणी शाकके द्वारा भी श्रद्धा-भक्तिसे श्राद्ध करता है, उसके कुलमें कोई भी दुःखी नहीं होता। यथा—

तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति॥

(ब्रह्मपुराण)

ब्रह्मपुराणके अनुसार 'श्रद्धा और विश्वासपूर्वक किये हुए श्राद्धमें पिण्डोंपर गिरी हुई जलकी नन्हीं-नन्हीं बूँदोंसे पशु-पक्षियोंकी योनिमें पड़े हुए पितृगणोंका पोषण होता है। जिस कुलमें जो बाल्यकालमें ही मृत्युको प्राप्त हो गये हों, वे सम्मार्जनके जलसे ही तृप्त हो जाते हैं। श्राद्धकी महत्ता तो यहाँतक है कि श्राद्धमें भोजन करनेके पश्चात् जो आचमन किया जाता है एवं पैर धोया जाता है, उसीसे बहुतसे पितृगण तृप्त हो जाते हैं। बन्धु-बान्धवोंके साथ अन्न-जलसे किये गये श्राद्धकी तो बात ही क्या है, मात्र श्रद्धा-भक्तिसे शाकके द्वारा किये गये श्राद्धसे भी पितर तृप्त होते हैं।'

श्राद्धका ही एक मुख्य अङ्ग है पितृतर्पण, जो श्राद्धके

दिन तो किया ही जाता है और प्रत्येक दिन संध्या आदिके समय भी किया जाता है। इसमें देवताओं, ऋषियों एवं मुनियों तथा नित्य पितरों एवं अपने पितरोंके साथ-साथ सम्पूर्ण विश्वके कीट-पतंगों, कुयोनिगत यातनाभोगी प्राणियोंको जल दिया जाता है, जो उनके पास पहुँचकर भावना-बलसे सम्पूर्ण विश्वका कल्याण कर देता है।

श्राद्धका परिणाम केवल पितरोंकी संतुष्टि एवं तृप्ति ही नहीं है, प्रत्युत उससे श्राद्ध-कर्ताको भी विशिष्ट फलकी प्राप्ति होती है। अस्तु, अपने परमाराध्य पितृगणोंके श्राद्धकर्मके माध्यमसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक उन्नतिको प्राप्त करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

श्रीगुरु तेगबहादुरजीके भक्ति-साहित्यमें रामनामकी महिमा

(प्रो॰ श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

शहीद-शिरोमणि श्रीगुरु तेगबहादुरजीके भक्ति-साहित्यमें रामनामकी महिमा पूर्णरूपसे उल्लिखित है। श्रीगुरु ग्रंथसाहिबमें गुरुदेवजीकी जो वाणी संकलित है, उसीके आधारपर यहाँ कुछ विचार किया गया है। इससे मानवोंकी भावात्मक एकताके प्रचारमें काफी बल मिलेगा।

सृष्टि-रचना तथा उसकी अस्थिरताकी ओर संकेत करते हुए गुरुदेवजी कहते हैं—

साधो रचना राम बनाई।
इक बिनसै इक असथिरु मानै, अचरज लखिओ न जाई॥
काम क्रोध मोह बसि प्रानी हरि मूरति बिसराई।

(राग गउड़ी, श्रीगुरु ग्रंथसाहिब)

अतः इस संसारको मिथ्या समझकर रामकी शरणमें ही रहना श्रेयस्कर है।

जन नानक जग जानियो मिथिया, रहिओ राम सरनाई॥

मुक्तिके लिये भक्ति आवश्यक है। यही जीवनके लिये रामबाण दवा है। पर वास्तविकता यह है कि करोड़ोंमें किसी एकको ही रामजीकी भक्ति सुलभ हो पाती है—

जन नानक कोटिन महि कोऊ भजन राम को पावै॥

मुक्ति तबतक सम्भव नहीं, जबतक प्राणीमें रामका वास नहीं होता—

नानक मुक्ति ताहि तुम मानहु, जिह घर राम समावै।

वेद, पुराण आदि भी यही कहते हैं कि प्राणी रामकी शरणमें जाकर विश्राम पाता है तथा राम-नामका स्मरण करता है—

साधो राम सरन बिसरामा।
वेद पुरान पढ़े को इहगुण, सिमरै हरि को नामा।

इसीलिये तो गुरुदेव तेगबहादुरजी कहते हैं—

कहु नानक सोई नर सुखिया, राम नाम गुण गावै।

(राग गउड़ी)

वही आदमी सुखी है जो रामगुण गाता है।

प्राणी अज्ञानवश सुख-प्राप्तिहेतु द्वार-द्वार भटकता फिरता है, पर उसे रामभजनकी सुध नहीं रहती—

दुआरहि दुआरि सुआन जिउ डोलत,
नह सुध राम भजन की। (राग आसा)

अतः आवश्यकता इस बातकी है कि सभी कार्योंके साथ-साथ नित्यप्रति राम-नामका भजन भी करना चाहिये, जिससे मानव-जन्म पानेका लक्ष्य सिद्ध हो जाय।

कहु नानक भज राम नाम नित, जाते काज सरे।

गुरुदेवजी डंकेकी चोट कहते हैं कि हे प्राणी! तू नित्य राम-नामका भजन कर जिससे उद्धार हो जायगा—

कहु नानक भज राम नाम नित, जाते होत उद्धार।

मानव-देह दुर्लभ है। अतः जिसने जन्म दिया है, जीवन दिया है, उससे प्रीति करना आवश्यक है। उसके सुकार्योंके गीत गाये जायँ, यही आवश्यक है—

रे मन! राम से कर प्रीति।
राघव गोविन्द गुन सुनहु अरु गाई रसना गीत।

इस क्षणभंगुर संसारमें समय नहीं है, समयकी गति बहुत तेज है—अवसर बीतता जा रहा है। भजनसे चूकना भारी भूल है—

कहे नानक राम भज ले जात अवसर बीति।

इतना ही नहीं इस नश्वर संसारमें सब कुछ मिथ्या है, बस केवल राम-भजन ही सही है—

अवसर सगल मिथिया एहि जानउ भजन राम को सही।

(राग सोरठि)

राम-भक्ति न करनेपर जीव मनसे कहता है—रे मन! तुमने कैसी कुमति पकड़ ली—पर-स्त्रीपर दृष्टि डाली, सबकी निन्दा की, संसारके रसमें—विषयमें रचा-पचा रहा। अब पछतावा करनेसे क्या लाभ?

मन रे! कउन कुमति ते लीनी।

पर दारा निंदिया रस रचिओ राम भगति नहिं कीनी॥

रामकी महिमा अवर्णनीय है। सच बात तो यह है कि राम शब्दके स्मरणमात्रसे ही सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है—

महिमा नाम कहाँ लउ बरनउ राम कहत बंधन तिह टूटा।

खैर, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। सबेरेका भूला हुआ आदमी यदि शामको घर लौट आता है तो उसे भूला नहीं कहा जायगा। इसलिये मुरारिका नित्य स्मरण किया करो—

अजहु समयि कछु बिगरिओ नाहिन, भजि ले राम मुरारि।

सचमुचमें रामकी महिमा न जानना मायाके हाथ बिकना है—

राम भजन की गति नहीं जानी, माया हाथि बिकाना।

इतना ही नहीं, गुरुदेवजीने बार-बार संकेत किया है—

राम नामका सिमरनु छोड़िया, माया हाथि बिकाना।

सच तो यह है कि रामरूपी रत्नकी प्राप्ति प्राणीके अंदरसे हो सकती है; क्योंकि ज्ञानकी आँखसे देखना है—

रतन रामु घट ही के भीतर, ताको गिआनु न पाइयो।

अतः गुरुदेव कहते हैं—

राम नाम बिन मिथ्या मानों, सगरो इह संसारा।

राम नामके बिना इस सारे संसारको मिथ्या मानो।

दूसरी तरफ वे कहते हैं—बाह्याडम्बर—तीर्थ-स्नान आदि व्यर्थ हैं, जबतक कि रामकी शरणागति न प्राप्त की जाय—

कहा भयो तीरथ व्रत कीए, राम शरण नहिं आवे।

सचाई तो यह है कि राम-भजन बिना मानव-जीवन व्यर्थ है—

जा में भजन राम को नाहीं।

तिह नर जन्म अकारथ खोइआ यह सरनहु मनमाही।

नानक बिरदु राम का देखो, अभय दान तिहि दीना।

कुमतिसे सुमतिकी ओर लानेवाला केवल रामनाम ही है—

जाते दुरमति सगल विनासे, राम भगति मन भीजे।

इसलिये हमें राम-नाममें तल्लीन रहना चाहिये—

राम नाम नर निसिवासर में, निमख एक उर धारै।

रामनाम सुखदाता है। अजामिल, शबरी, गणिका, पाञ्चाली आदिकी कहानियाँ साखी हैं। राम-नामके अतिरिक्त संकटमें कोई सहायक नहीं—

पंचाली कउ राजसभा महि रामनाम सुधि आई।

राम नाम बिन या संकट महि को अब होत सहाई॥

अतः गुरुजी संकेत करते हैं कि यह संसार सर्वथा दुःखमय, क्षणिक एवं नाशवान् है, यहाँ जो उत्पन्न हुआ, वह निःसंदेह कालके गालमें चला जायगा। इसलिये इस बातको अच्छी तरह समझकर मायामय संसारके प्रपञ्चको छोड़कर हरिका गुणगान करना—भगवान्‌का नाम-संकीर्तन करना सर्वोपरि कर्तव्य है। यहाँ कोई सच्चा साथी नहीं है, इस घोर विपत्तिमय भवसागरसे मुक्ति दिलानेवाले एकमात्र रघुनाथ और उनका नाम ही है। अतः राम-नामका अवलम्बन ही परम श्रेयस्कर है—

इह मारगु संसार को नानक थिरु नहिं कोई॥

जो उपजिओ सो बिनसिहै परो आजु के काल।

नानक हरि गुन गाइले छाड़ि सकल जंजाल॥

संग सखा सब तजि गये कोउ न निबहिओ साथ।

कह नानक इह बिपत में टेक एक रघुनाथ॥

राम-नामसे वाहिगुरु एक परमात्माकी ओर संकेत है, जो जीवनरूपी रोगके लिये रामबाण दवा है।

'प्रसन्नता सात्त्विक भाव है। प्रसन्न मनुष्य सबको प्रसन्नताका दान करता है। विषादी और क्रोधी तो विषाद और क्रोध ही बाँटते हैं। —श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ('दाम्पत्य-जीवनका आदर्श' पुस्तकसे)

कहानी—

गृहस्थ संन्यासी

वह एकान्तप्रेमी था। संसारकी ओरसे सदैव उदासीन रहा करता था। जब कभी कोई पास न रहता और उसे अवकाश मिलता तब वह जीवनकी क्षणभङ्गुरता, शरीरकी नश्वरता और संसारकी असारताके विषयमें सोचा करता था।

उसका परिवार स्नेहमयी माता, पतिपरायणा साध्वी पत्नी, एक आज्ञाकारी पुत्र और दो सुशील कन्याओंसे सुसम्पन्न था। फिर भी उसका मन उसमें नहीं लगता था। उसके मानसिक विचारोंकी शक्ति बढ़ रही थी। माताकी ममता, पत्नीका प्रेम और पुत्र-पुत्रियोंकी सलोनी मूर्ति उसे एक सच्चा गृहस्थ बनानेमें असमर्थ थी।

संसारकी असारतापर विचार करके अपने समवयस्कों तथा अल्प अवस्थावालोंकी मृत्यु देखकर वह थर्रा उठता था। 'संसार भूल-भुलैया है, धोखेकी टट्टी है और है एक स्वप्न।' उसके अन्तःकरणकी ऐसी प्रबल धारणा हो चुकी थी और वह पारिवारिक प्रेम-रज्जुको तोड़कर विरक्त होनेका निश्चय कर रहा था।

वह गीताका प्रेमी था और था श्रीकृष्णका उपासक। प्रातःकाल स्नान और गीता-पाठके पूर्व वह जल तक ग्रहण नहीं करता था। उसे स्वादिष्ट भोजनकी परवा नहीं थी। साधारण मोटे वस्त्रोंसे ही वह संतुष्ट था। शयनके लिये पृथ्वी और पलंग दोनों उसके लिये समान थे।

वह था व्यापारी, परंतु व्यापारियोंके वाग्जालको, उनकी नीतिको वह घृणाकी दृष्टिसे देखता था। 'थोड़े-से जीवनके लिये इतनी हाय-हाय! इतना प्रपञ्च!! केवल दो रोटियोंके लिये!!! नहीं, ऐसा मुझसे नहीं होगा। गृहस्थी जंजाल है। माता-पिता, भाई-बन्धु और स्त्री-पुत्र—यह सब माया है। यह देवदुर्लभ मानव-शरीर भजनके लिये मिला है, भोजनके लिये ही नहीं। इसे खोकर फिर सिवा पछतानेके और कुछ न होगा।' वह ऐसी ही बातें सोचा करता और मस्त होकर गाता—

प्यारे! जीवनके दिन चार।
भूल न जाना जग ममताका देख कपट-व्यवहार ॥ प्यारे० ॥
किसका तू है, कौन [illegible] संसार ॥ प्यारे० ॥
अति दुर्लभ मानुष-तन पाकर, खो मत इसे गँवार ॥ प्यारे० ॥
प्यारे प्रभुसे प्रीति करे यदि तो उतरे भव पार ॥ प्यारे० ॥

× × ×

वह संसारसे ऊब चुका था। उसने गृह-कार्योंसे मुँह मोड़ लिया था। इससे उसके परिवारवालोंको कष्टमय जीवन बिताना पड़ता था। स्नेहमयी माता, उसकी पत्नी और बच्चे उसीके आश्रित थे। घरमें कोई दूसरा सँभालनेवाला नहीं था।

उसकी माता रात-दिन गृहस्थीकी चिन्तामें और गृह-कार्योंमें ही लगी रहती थी। भोजनके लिये अनाज साफ करते-करते तथा फटे वस्त्रोंको—चिथड़ोंको सीते-सीते बेचारी थक जाती थी और उसकी कोई सेवा नहीं हो पाती थी। स्त्रीको भी बच्चोंकी देख-भाल करनेसे तथा गृह-कार्योंसे अवकाश नहीं मिलता था। पुत्रकी शिक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं था और दो अविवाहित कन्याओंका बोझ सिरपर।

× × ×

एक दिन सबेरे वह चुपकेसे घरसे निकल पड़ा। अँधेरा रहते ही वह घरसे निकला था, जिससे कोई उसे देख न सके। तीन दिनके पश्चात् वह एक वनमें पहुँच गया। वन बड़ा गहन और जनशून्य था। उधरसे कोई आता-जाता न था। कोसोंतक गाँवका पता न था। पशु भी दिखायी नहीं पड़ते थे। केवल वनके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष थे और गगनगामी पक्षी।

वह भूखसे पीड़ित था। प्याससे गला सूख रहा था। थककर चूर था। पासमें खानेको कुछ न था। वृक्ष जंगली थे। उनके फल-फूल खानेयोग्य नहीं थे। कोई ऐसा वृक्ष भी नहीं था जिसका फल खाकर प्यास भी बुझायी जा सके। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे एक स्थानपर बरसाती जल मिला, बड़ा गंदा और मटमैला। उसने उसे ही पीकर अपनी प्यास बुझायी। वह थका था ही, इससे एक वृक्षके नीचे बैठते ही उसे नींद आ गयी।

रातमें भूखके कारण दस बजेके लगभग जब उसकी नींद टूटी तो उसने थोड़ी दूरपर एक टिमटिमाता-सा प्रकाश देखा। वह प्रकाशको लक्ष्य करके अँधेरेमें धीरे-धीरे उसी ओर बढ़ने लगा।

वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि एक पर्णकुटी है। उसके द्वारपर मृग, गाय और सिंह वैर-भाव भूलकर एक साथ बैठे

हैं। गाय और मृगको सिंहका कोई भय नहीं है। सिंह अपने सम्मुख भोज्य पदार्थोंको देखकर भी उन्हें खानेकी चेष्टा नहीं करता है। बड़ी विचित्र बात थी। सिंह उसे भी—एक मनुष्यको—अपने स्वाभाविक आहारको सामने देखकर फाड़ खानेके लिये लालायित नहीं हुआ और न उसे अपनी दहाड़ या उग्र दृष्टिसे भयभीत ही किया। इससे उसके लिये डरनेका कोई कारण ही नहीं था और वह पर्णकुटीके भीतर चला गया।

× × ×

पर्णकुटी बड़ी रमणीय और सुसज्जित थी। उसमें बड़े मनोहर और चित्ताकर्षक चित्र टँगे थे, किसी अमर चित्रकारके बनाये हुए। चित्र भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके थे—महाभारत-संग्रामविषयक।

एक चित्रमें अर्जुन अपने आत्मीयोंको, अपने स्वजनोंको ही रणस्थलमें देखकर चिन्तासे व्याकुल हो रहा था। वह अपना गाण्डीव छोड़कर रथके पिछले भागमें उदास होकर बैठा था। शरीर काँप रहा था। अभ्यस्त धनुर्धर होते हुए भी उसका हाथ अपने स्वजनोंका वध करनेमें असमर्थ था। साहसी होनेपर भी उसका धैर्य विलीन हो रहा था। कुशल चित्रकारने अर्जुनके मनोभावोंको चित्रित करनेमें बड़ी सफलता पायी थी। दूसरे चित्रमें योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको क्षात्र-धर्मका अमृतमय उपदेश दे रहे थे। अर्जुन अपनी भूलपर पश्चात्ताप कर रहा था। तीसरे चित्रमें अर्जुन स्वयं अपने ही हाथोंसे अपने गुरुजनों और पुत्र-पौत्रोंपर तीक्ष्ण बाण-वर्षा कर रहा था और अपने लक्ष्यसे धराशायी हुए स्वजनोंको देखकर हर्षित हो रहा था। चौथे चित्रमें मुरलीमनोहर अपनी मुरलीमें प्रेममग्न होकर; ***'हम भक्तनके भक्त हमारे'*** गा रहे थे।

कई स्थानोंपर गीताके उपदेश मोटे और सुन्दर अक्षरोंमें लिखे हुए टँगे थे। एक रत्नजटित सिंहासनपर 'श्रीगीताजी' विराजमान थीं और एक वृद्ध महात्मा एक मृगचर्मपर बैठे हुए थे। उनके मुखमण्डलसे प्रकाशकी किरणें छिटक रही थीं। वहाँ अन्य कोई प्रकाश नहीं था।

जंगलमें बहुत दूरतक भ्रमण करनेपर भी उसे कोई आदमी नहीं मिला। पता नहीं, यह पर्णकुटी कहाँसे आ गयी ? सिंह-जैसा हिंसक पशु मृग और गायको अपना आहार क्यों नहीं बनाता ? [illegible] होगा। तभी तो इनके मुखमण्डलसे प्रकाश छिटक रहा है। बड़े भाग्यसे उसे ऐसे देव-पुरुषका साक्षात्कार हो गया। वह बड़ा प्रसन्न था। परंतु कुछ ही देर बाद उसने देखा तो उसको महात्माजीके चेहरेपर क्रोधके चिह्न स्पष्ट दिखलायी दिये। एक विरक्त महात्माके मनमें क्रोध क्यों ? जब सिंह-जैसा हिंसक पशु भी इनके तपोबलसे सीधी गाय बनकर रहता है, तब स्वयं इनके अंदर क्रोधका रहना बहुत ही आश्चर्यकी बात है। क्योंकि जहाँ क्रोध है, वहीं हिंसा है और जहाँ वास्तवमें हिंसा है, वहाँ हिंसक पशुओंकी अहिंसाकी स्थिति नहीं हो सकती। उसके कुछ भी समझमें नहीं आया।

× × ×

उसने महात्माजीको नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। महात्माजीने धीरेसे 'श्रीहरि' कहकर उसे इशारेसे बैठनेका आदेश दिया। फिर उन्होंने उससे उसके वहाँ आनेका कारण पूछा। उसे क्षुधासे पीड़ित जानकर उन्होंने उसे एक पत्तलमें महाप्रसाद दिया और आश्रयके लिये रात्रितक वहीं विश्राम करनेकी स्वीकृति।

महाप्रसाद पाकर उसकी तृप्ति हो गयी, सारी थकावट मिट गयी और फिर उसमें नव-जीवन आ गया। महात्माजीको वस्तुतः उदार और कोमल प्रकृतिका जानकर उसने साहस करके उनसे कहा—

'भगवन्! एक प्रश्न पूछूँ ?'

'हाँ, सहर्ष।'

'आप रुष्ट तो नहीं होंगे ?'

'नहीं।'

'आपके चेहरेपर क्रोधके चिह्न कैसे प्रकट हो रहे थे ?'

'वत्स ! जाने दो, ऐसा प्रश्न न करो।'

महात्माजीने पहले उसे टालना चाहा, परंतु उसके आग्रह करनेपर तैयार हो गये। उन्होंने कहा—'पीपरा ग्राममें एक वैश्य रहता है। वह स्नान करके नित्य गीताका पाठ करता है। श्रीकृष्णका भक्त है और है साधुस्वभावका। उसका नाम है भोलानाथ। मुझे उसके एक विपरीत आचरणकी याद आ गयी, इसीसे क्रोध उत्पन्न हो आया। उसे दण्ड देनेका मन कर रहा है।'

'[illegible] किसीका

अपकार नहीं करता। स्नान और गीता-पठनके पूर्व जल तक नहीं पीता। सुख-दुःखको समान समझता है। गृहस्थीके जंजालसे परे है और मायासे दूर। उसपर इतना क्रोध क्यों ? उसने विस्मयसे पूछा।

महात्माजी बोले—'अच्छा, बताओ यदि एक राज-कर्मचारी और एक अशिक्षित व्यक्ति दोनों राजनियमके विरुद्ध कोई कार्य करें तो दोनोंमें विशेष दण्डनीय कौन होगा ?'

'राजकर्मचारी, क्योंकि वह राजनियमसे परिचित है। उसे विशेष दण्ड मिलना चाहिये।' उसने उत्तर दिया।

'अच्छा, अब अपने प्रश्नपर आओ। भक्त भगवान्‌का कर्मचारी है और गीता भगवान्‌का नीति-ग्रन्थ है। भक्त अन्य मनुष्योंसे श्रेष्ठ है। यदि वह भी नियमके विरुद्ध चलेगा तो संसारमें हलचल मच जायगी। सांसारिक मनुष्य उसका अनुकरण करेंगे और इससे होगा सर्वनाश। संसारका सर्वनाश करनेवाला भक्त कदापि नहीं हो सकता। वह अपराधी है और दण्डका भागी।' महात्माजी बोले।

'ठीक है, भगवन्! परंतु वह तो ऐसा कोई कार्य नहीं करता। उसे तो अधर्मसे घृणा है। वह तो पारिवारिक प्रेमसे भी परे रहता है, बल्कि उनकी ममता छोड़कर विरक्त भी है।' उसने कहा।

यह सुनकर महात्माजीका क्रोध बढ़ गया, उनकी आँखें लाल हो गयीं, वे कड़ककर बोले—व्यर्थ उसके आचरणका समर्थन न करो। वह श्रीकृष्णका भक्त होकर भी श्रीकृष्णके आदेशके विरुद्ध आचरण करता है। उनका स्पष्ट आदेश है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

अर्थात् 'जो मनुष्य अपने सब कार्योंको परमात्माके अर्पण कर देता है और आसक्तिरहित होकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे पद्मपत्रके समान पापसे परे रहता है। पूर्वमें होनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंने भी इस प्रकार जानकर कर्म किये हैं, अतएव तू पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्म ही कर।'

उन्होंने फिर कहा—'कर्म करनेमें पाप समझकर कर्मका त्याग करके वह विरक्त हो गया है। मैं जानता हूँ, वह अच्छा पुरुष है, उसमें वैराग्य और त्याग भी है, परंतु यदि उसके-जैसे श्रेष्ठ मनुष्य भी जब ऐसा करेंगे तो कोई भी व्यक्ति श्रीकृष्णके 'कर्मयोग'पर श्रद्धा नहीं करेगा। सांसारिक कर्ममें पाप समझकर लोग कर्मसे विमुख हो जायँगे और कोई संसारमें न रहेगा। इससे श्रीकृष्णके उपदेशोंका—उनकी गीताका केवल एक अज्ञानी व्यक्तिकी मूर्खताके कारण कोई महत्त्व नहीं रहेगा। लोग गीता-पाठसे भय करेंगे और श्रीकृष्णके उपदेशोंसे लाभान्वित होनेसे वञ्चित रह जायँगे। उसे चाहिये कि मनसे विरक्त रहते हुए ही वह भगवान् श्रीकृष्णके आदेशको मानकर अनासक्त-भावसे कर्तव्य-कर्म करे और अपने उन कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा ही भगवान्‌का पूजन करे। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो वह संतप्त परिवारकी आहोंसे अवश्य भस्म हो जायगा अथवा मेरा यह क्रोध ही उसे उचित शिक्षा देगा।'

भोलानाथ उसीका नाम था। वह भयसे काँपने लगा। उसने कोई उत्तर नहीं दिया और भयसे आँखें मूँद लीं। थोड़ी देरके पश्चात् वह सो गया।

प्रातःकाल उठनेपर उसने देखा वहाँ कोई पर्णकुटी नहीं है। महात्माजी, उनके सिंह, मृग और गायका कहीं पता तक नहीं है। उसने अपनेको एक वृक्षके नीचे सोया पाया। उसके ज्ञानचक्षु खुल गये, उसे ज्ञात हो गया स्वयं 'श्रीहरि' ही साधुके वेशमें उसे सावधान करने आये थे। उसकी आँखोंसे कृतज्ञतासूचक अश्रुधारा बह चली।

उसने बाहरसे विरक्त होनेका ध्यान छोड़ दिया। भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशानुसार गीतापथका पथिक बनकर वह फलासक्ति और कर्तृत्वाभिमानको छोड़कर भगवत्पूजाके भावसे गृहस्थधर्मका पालन करने लगा। वह संगरहित होकर कर्म करता था और पद्मपत्रके जलसे निर्लेप होनेके समान वह भी निर्लेप था। अब वह एक गृहस्थ संन्यासी था।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

गीताका आरम्भ और पर्यवसान शरणागतिमें

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

आदावन्ते च गीतायां प्रोक्ता वै शरणागतिः ।
आदौ शाधि प्रपन्नं मामन्ते मां शरणं व्रज ॥

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ-साथ ही रहते थे। साथ-साथ रहनेपर भी जबतक अर्जुनने भगवान्की शरण होकर अपने कल्याणकी बात नहीं पूछी, तबतक भगवान्ने उपदेश नहीं दिया। मनुष्य शरण कब होता है ? जब मनुष्य सच्चे हृदयसे अपना कल्याण चाहता है, पर उसको अपने कल्याणका कोई रास्ता नहीं दीखता और उसका बल, बुद्धि, योग्यता आदि काम नहीं करते, तब वह गुरु, ग्रन्थ अथवा भगवान्की शरण होता है। अर्जुनकी भी ऐसी ही दशा थी। उनको क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे तो युद्ध करना ठीक मालूम देता है, पर कुलनाशकी दृष्टिसे युद्ध न करना ही ठीक जँचता है। इसलिये युद्ध करना ठीक है अथवा न करना ठीक है—इसका वे निर्णय नहीं कर पाये। अगर भगवान्की सम्मतिसे युद्ध किया भी जाय तो हमारी विजय होगी अथवा पराजय होगी—इसका भी उन्हें पता नहीं और युद्धमें कुटुम्बियोंको मारकर वे जीना भी नहीं चाहते (२। ६)। ऐसी अवस्थामें अर्जुन भगवान्की शरण होते हैं (२। ७)।

भगवान्की शरण होनेपर भी अर्जुनके मनमें यह बात जँची हुई है कि युद्ध करनेसे हमें अधिक-से-अधिक पृथ्वीका धन-धान्यसम्पन्न राज्य ही मिल सकता है। अगर इससे भी अधिक माना जाय तो देवताओंका आधिपत्य मिल सकता है; परंतु इससे इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता (२। ८)। दूसरी बात, मैं भगवान्की शरण हो गया हूँ; अतः अब भगवान् चट कह देंगे कि 'तू युद्ध कर', जबकि युद्धसे मेरेको कोई लाभ नहीं दीखता। अतः अर्जुन भगवान्के कुछ बोले बिना अपनी तरफसे साफ-साफ कह देते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—**'न योत्स्ये'** (२। ९)।

मनुष्य जिसके शरण हो जाय, उसकी बात यदि समझमें न भी आये, तो भी उसमें यह दृढ़ विश्वास रहना चाहिये कि इनकी बात माननेसे मेरा भला ही होगा। अर्जुनका भी भगवान्पर दृढ़ विश्वास था कि यद्यपि मेरेको अपनी दृष्टिसे युद्ध करनेमें किसी तरहका लाभ नहीं दीखता, तथापि भगवान् जो भी कह रहे हैं, वह ठीक ही है। इसलिये गीतामें अर्जुन तरह-तरहकी शङ्काएँ तो करते रहे, पर वे भगवान्से विमुख नहीं हुए।

अर्जुनके पूछनेपर तथा अपनी तरफसे भी भगवान्ने बहुत मार्मिक बातें कहीं और अपनी शरणागतिकी बातें भी कहीं, पर अर्जुनको वे बातें पूरी तरह जँची नहीं। अन्तमें भगवान्ने कहा कि तू सबके हृदयमें विराजमान सर्वव्यापी ईश्वरकी शरणमें चला जा; उसकी कृपासे तेरेको संसारसे सर्वथा उपरति और अविनाशी पदकी प्राप्ति होगी (१८। ६२)। मैंने तो यह गोपनीय-से-गोपनीय बात तेरेसे कह दी, अब जैसी तेरी मरजी हो, वैसा कर—**'यथेच्छसि तथा कुरु'** (१८। ६३)।

अर्जुनमें यह एक बहुत बड़ी विलक्षणता थी कि वे भगवान्को छोड़ना नहीं चाहते थे। अतः जब भगवान्ने कहा कि 'जैसी तेरी मरजी हो वैसा कर', तब अर्जुन बहुत घबरा गये, व्याकुल हो गये। अतः भगवान्ने सर्वगुह्यतम उपदेश देते हुए कहा कि 'तू सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयको छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता-शोक मत कर *।' भगवान्की इस बातको सुनकर अर्जुन सर्वथा भगवान्की शरण हो गये और उनको अपनी बुद्धिका भरोसा नहीं रहा। अर्जुन बोले कि 'हे अच्युत! केवल आपकी कृपासे मेरा मोह सर्वथा नष्ट हो गया। अब मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा'—**'करिष्ये वचनं तव'** (१८। ७३)। ऐसा कहकर अर्जुन चुप हो गये और भगवान् भी कुछ नहीं बोले अर्थात् अपनी सर्वथा शरण हो जानेपर भगवान्को अर्जुनके लिये कोई विषय कहना बाकी नहीं रहा।

---

* सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८। ६६)
—यह शरणागतिका मुख्य श्लोक है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

प्राचीन भारतमें दन्तरोगोंका उपचार

(डॉ॰ श्रीसीतारामजी सहगल)

लगभग सन् १९३३ की बात है, मैंने दाँतोंके नीचेकी पट्टीमें प्रातः दातून करते समय देखा कि कुछ रक्तस्त्रावके दाग दिखायी पड़ रहे हैं। लाहौरमें हमलोग बबूलकी दातून किया करते थे। उन दिनों 'यूनियन सरकार'ने लाहौरमें 'दन्तशल्य-क्रिया'का एक अस्पताल खोला था। मैंने सोचा कि दाँतोंकी परीक्षा वहाँ करा ली जाय। यह निश्चय कर मैं वहाँ पहुँचा। एक नवयुवक डॉक्टरने दाँतोंकी परीक्षा की। बादमें उन्होंने सलाह दी कि उन खूनी दाँतोंको निकालकर नये बनावटी दाँत लगा दिये जायँ। मैंने उनका डॉक्टरी परामर्श सुना और फिर आनेको कहकर वहाँसे घर चला आया।

घरपर आकर मैंने अपने पूज्य दादाजीको दाँतोंकी तकलीफ, उसका अस्पतालमें जाकर परीक्षण और डॉक्टरकी राय सब कुछ विस्तारसे बताया। उन्होंने सब कुछ सुनकर कहा—'बेटा! कुछ दिनोंतक दाँतोंसे अपनी कुश्ती बंद करो। बाजारसे 'पोटेशियम परमैगनेट' दवाई लाओ और दिनमें तीन-चार बार गरारे करो। रातको और सुबह दोनों समय सरसोंके तेलमें सेंधा नमक मिलाकर दाँतोंपर मलो, पाँच मिनटतक उसे लगा रहने दो, फिर बादमें कुल्ले कर मुँह साफ कर सो जाओ। कम-से-कम एक सप्ताहतक इस उपचारको करो। मैंने उनकी आज्ञाका पालन किया और एक सप्ताहमें ही दाँतोंसे खूनका आना बंद हो गया। ऐसा लगा कि दादाजीने जादूका फार्मूला बता दिया था।

कुछ दिन हुए, मैंने समाचार-पत्रोंमें पढ़ा कि पहले हरियाणा और अब हिमाचल सरकारने आयुर्वेदके उद्धार-हेतु कुछ योजनाएँ बनायी हैं तो मुझे भी इस विषयमें जाननेकी कुछ इच्छा हुई। मैंने आयुर्वेदके सुश्रुतसंहिता आदि आर्षग्रन्थोंको पढ़ना प्रारम्भ किया। सुश्रुतसंहितामें दन्त-रोगोंकी चिकित्साके प्रकरणमें लिखा था—

तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशाङ्गुलमायतम्।
कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थितमव्रणम्॥
अयुग्मग्रन्थि यच्चापि प्रत्यग्रं शस्तभूमिजम्।
आपोलिताग्रं द्वौ कालौ सायं प्रातश्च बुद्धिमान्॥
भक्षयेद् दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्।

(सुश्रुतसंहिता, चिकित्सित-स्थान २४)

प्रातः शौचाचमनके बाद बारह अङ्गुल लंबी, कनिष्ठिका अँगुलीके बराबर मोटी, सीधी, ग्रन्थिरहित, व्रणविहीन, ताजी और अच्छी भूमिमें उत्पन्न लकड़ीकी दातून करनी चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्ति सायं और प्रातः दोनों समय मसूढ़ोंको बिना बाधा पहुँचाये मुलायम कूँची बनाकर दातून करे।

किस-किस पेड़की दातून करनी चाहिये, इसके बारेमें लिखा था कि पेड़ोंमें ऋतु-दोष, रस और वीर्यको देखकर कसैली (बबूल), मीठी (कांजा), तिक्तमें नीमके वृक्षकी दातून करनी चाहिये। मुझे यह आश्चर्य हुआ कि प्राचीन आचार्योंने कितनी बारीकीसे इस विषयका अध्ययन और परीक्षण किया है। ऋषिकी दूरदर्शिता मुझे चौंकानेवाली लगी—

क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्तं सतैलं सैन्धवेन च।
चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान् नित्यं विशोधयेत्॥
रास्नातेजोवतीधान्यशटीकुष्ठवचान्वितैः।
रोचनाचन्द्रकं कोलैश्चूर्णदन्तविशोधनम्॥
एकैकं घर्षयेद् दन्तं मृदुना कूर्चकेन च।
दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन्॥
तद्दौर्गन्ध्योपदेहौ तु श्लेष्माणं चापकर्षति।
वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च॥

(सुश्रुतसंहिता, चिकित्सित-स्थान २४)

मधु, व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल), त्रिवर्ग (त्रिसुगन्ध—दालचीनी, इलायची और तेजपात), तेल (सरसोंका), सेंधा नमक और तेजबलके चूर्णसे दाँतोंको हमेशा शुद्ध करना चाहिये। रास्ना, तेजबल, धनिया, कचूर, कूट, वच, गोरोचन, कपूर और शीतलचीनीके चूर्णसे दाँतोंको साफ करना चाहिये। कोमल कूँची और दन्तशोधक चूर्णसे मसूड़ोंको बिना बाधा पहुँचाये एक-एक दाँतकी सफाई करे। इससे मुँहकी दुर्गन्ध, लबाब और कफ दूर हो जाते हैं। मुँहमें स्वच्छता, अन्नमें रुचि होती है तथा मन भी प्रसन्न रहता है।

उपर्युक्त श्लोकोंमें '**सतैलं सैन्धवेन च**' पठनीय है। इसमें सरसोंके तेलमें सेंधा नमक मिलाकर दाँतोंको साफ करना विहित है, जो मुझे मेरे दादाजीने लगभग ५९ वर्ष पूर्व बताया था। इसलिये आजके बहुप्रचारित टूथपेस्टों और टूथपाउडरों आदिके स्थानपर बबूल और नीम आदिकी दातूनका सेवन श्रेयस्कर है। इन ताजी दातूनोंमें जो रस रहता है, वह कीटनाशक और दुर्गन्ध दूर करनेवाला होता है तथा वह प्रत्येक ऋतुमें हितकारी रहता है। अथर्ववेदके एक मन्त्रमें पूर्ण स्वास्थ्यकी प्रार्थना की गयी है, जो इस प्रकार है—

वाणी मेरे मुँहमें, प्राण नासिकाओंमें, देखनेकी शक्ति नेत्रोंमें; श्रवण-शक्ति कानोंमें हों। मेरे सिरके बाल सफेदीरहित हों तथा दाँत मलरहित हों। भुजाओंमें बल हो। ऊरुओंमें ओज, जंघाओंमें वेग, पाँवोंमें चलनेकी शक्ति, सब अङ्गोंमें नीरोगता तथा आत्मामें सब तरहसे उन्नति हो।

मूल मन्त्र इस प्रकार है—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः। पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥

(अथर्ववेद १९। ६०। १-२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने मानवको सर्वाङ्ग स्वस्थ रखनेकी दृष्टिसे अपने ज्ञान, तपस्या, सिद्धि और शक्तिके बलपर गहन खोजकर विभिन्न जड़ी-बूटियों और पदार्थोंके महत्त्वको जाना-समझा और फिर उनके उपयोगको सूत्रबद्ध किया। ये ही ग्रन्थरूपमें प्राणिमात्रके लिये महान् उपकारक सिद्ध हुए। केवल भारत ही नहीं, अपितु विश्वके प्रायः श्रेष्ठ विद्वानोंने इनकी उपादेयताको स्वीकार कर खूब सराहा है। यहाँ तो दाँतोंकी देखभालके विषयमें स्वल्प संकेत किया गया है। विशेष ज्ञानके लिये आयुर्वेदशास्त्रका गहन अध्ययन, सुयोग्य आधिकारिक भिषग्वरोंका सत्परामर्श और भगवत्कृपाका अवलम्बन ग्रहण करना चाहिये।

झूठकी भयानक सजा

(डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी)

एक समयकी बात है, शिष्यकी गोदमें सिर रखे गुरु सो रहे थे। इतनेमें एक कीड़ा शिष्यकी जाँघपर पहुँचकर मांसको काटने लगा। शिष्य गुरुभक्त था। अपने गुरुकी सेवाको ही परमेश्वरकी पूजा मानता था। तन-मनसे वह सदा गुरुजीकी सेवामें लगा रहता था। इस तन्मयता और समर्पित-भावसे सेवा करनेके कारण वह गुरुजीका विश्वासपात्र बन गया था। गुरुजीका आत्मीय हो जानेके कारण ही वे उसकी गोदमें सिर रखे सो रहे थे।

गुरुजीकी नींद बड़ी गहरी थी। शिष्य बिना हिले-डुले मूर्तिवत् बैठा हुआ था। यदि तनिक भी हिला तो उसे डर था कि कहीं देवता-जैसे उसके गुरुजीकी निद्रा भंग न हो जाय। उन्हें विश्राममें कोई व्यवधान न पड़े।

वह यदि कीड़ेको हटाता तो गुरुजी जाग उठते। अतः वह काटनेकी पीड़ा सहता रहा। धीरे-धीरे वह वेदना बढ़ती गयी। रक्त प्रवाहित होने लगा। शिष्यको असह्य पीड़ा हो रही थी। कोई साधारण व्यक्ति होता तो कष्ट सह न पाता और वेदनासे चिल्ला उठता। हाथ-पैर पटकता, रक्त पोंछता, कीड़ेको क्रोधसे मसल डालता; लेकिन शिष्य बहादुर था, कष्ट-सहिष्णु था, कठोर मनःस्थितिका था, मुसीबतोंसे टक्कर लेनेवाला था, कष्टोंसे घबराता न था, अतः खून बहता रहा और वह न हिला, न डुला। बिलकुल गतिविहीन! स्थिर, मूर्तिवत्!

शिष्यका खून बहते-बहते गुरुजीके अङ्गोंपर लगा। गर्म-गर्म रक्त जब गुरुजीके शरीरको लगा, तो वे घबड़ा कर उठ बैठे। यह रक्त कहाँसे मेरे शरीरमें लगा। वे शिष्यके रक्त बहते देख आश्चर्यमें रह गये।

'तुम्हारी जाँघसे रक्त बहता रहा, कितना भारी शारीरिक कष्ट सहा है तुमने। बालकोंके तनिक-सी चोट लगनेसे वे चिल्ला उठते हैं, इधर तुम हो कि इतना रक्त बह जानेपर भी एक शब्द तक उच्चारण नहीं किया। हिले-डुलेतक नहीं। बड़े धैर्यवान् हो।'

शिष्यने कहा—'गुरुजी! यदि मैं हिलता-डुलता तो आपकी निद्रा भंग हो जाती। आपकी सेवामें बाधा पड़ती। गुरुजीकी सेवामें मैंने शारीरिक वेदनाकी परवाह तक न की।

मेरा कर्तव्य यही शिक्षा देता है।'

'ओफ ! यह असह्य दुःख इतने धैर्यसे सहन किया। तुम एक वीर योद्धा हो जाओगे।' वे रक्त पोंछते हुए बोले।

'देखें, कहाँ घाव लगा है ?'

कर्णने लहू-लुहान अपनी जाँघ दिखलायी। हिंसक कीड़ेको निकालकर फेंक दिया। शिष्यकी जाँघमें बना हुआ घाव देखकर परशुराम सोचमें पड़ गये। कैसे स्वभावका है यह शिष्य।

'यह भयानक शारीरिक कष्ट ब्राह्मण तो सहन नहीं कर सकता। ब्राह्मण तो ज्ञान, ध्यान, भक्ति, अध्ययन, स्वाध्याय और चिन्तनमें लगा रहता है, वह इतना भारी दुःख सहन नहीं कर सकता। यह शिष्य अवश्य क्षत्रिय होगा। युद्धभूमिमें मरने-कटनेके घावोंकी परवाह न करनेवाला, अन्तिम श्वासतक लड़नेवाला आदमी तो क्षत्रिय ही हो सकता है। यह शिष्य ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय-पुत्र है। इसमें योद्धाओंके संस्कार हैं। यह क्षत्रिय हो सकता है। धैर्य, साहस, वीरता, कष्ट-सहिष्णुता—ये सभी गुण इसमें विद्यमान हैं।'

डाँटकर, आँखें दिखाकर परशुरामने कर्णसे अपने वर्णका सच्चा हाल स्पष्ट करनेका आदेश दिया। 'तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इनमेंसे किस वर्णके हो युवक ?'

अब तो कर्ण संकटमें पड़ गया। अपने वर्णको जिसने इतने लम्बे अर्सेतक छिपाया था, वह आखिर सामने आ ही गया। उसे क्षत्रिय होना स्वीकार करना पड़ा……।

'दानवीर कर्णके नामसे प्रसिद्ध वीर कर्ण अस्त्रविद्यामें ऐसा कुशल था कि उसका मुकाबला सदा धनुर्धारी वीर अर्जुनसे ही होता रहा, परंतु उसमें कई दोष और चारित्रिक कमजोरियाँ भी थीं। वह ईर्ष्यालु स्वभावका था। दुर्योधनने पाण्डवोंपर जो अत्याचार किये, उसमें कर्णने सदा पापपूर्ण ईर्ष्यासे भरी हुई सलाह दी। अर्जुनसे उसे बड़ा द्वेष था। यह वैर-भाव, यह ईर्ष्या-द्वेष उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी। ईर्ष्या पैदा होती है अभिमान और अहंकारसे। ईर्ष्या एक पूर्णतः प्रतिशोधात्मक और अलाभकारी दुर्भाव है। आप ईर्ष्या करके सौन्दर्य, बुद्धि या ख्याति नहीं पा सकते। ईर्ष्या करनेसे कुछ नहीं मिलता। इसके विपरीत वह अपने ही ओछेपन और अहंकारसे, अपने ही स्वार्थ और झूठे अभिमानसे अपने मनकी शान्ति भंग करता है। अंदरसे अग्निकी तरह जलता रहता है।

कर्णने सुना कि गुरु द्रोणाचार्यने अपने प्रिय शिष्य अर्जुनको ब्रह्मास्त्र चलाना सिखाया है, तो वह ईर्ष्यासे जल-भुन उठा। मैं क्यों अर्जुनसे पीछे रहूँ ?—यह सोचकर वह भी गुरु द्रोणके पास ब्रह्मास्त्र चलाना सीखनेके लिये गया।

'गुरुजी ! मुझे ब्रह्मास्त्र-विद्या सिखलाइये। यह सीखनेकी मेरी उत्कट इच्छा है।'

'कर्ण ! विद्या सुपात्रको ही दी जाती है। शिष्यमें नैतिकता, समाजका हित-चिन्तन, विद्याका सदुपयोग करना, व्यर्थ ही ईर्ष्या-द्वेषवश किसीको भी हानि नहीं पहुँचाना आदि सद्गुण होने चाहिये। कर्ण ! तुममें इन सद्गुणोंका अभाव है। मुझे संदेह है कि तुम ब्रह्मास्त्र-विद्याका सदुपयोग कर सकोगे ! क्रोध-आवेश, उत्तेजना, स्वार्थवश तुम्हें प्रायः उचित-अनुचित तकका ध्यान नहीं रहता। और फिर ब्रह्मास्त्रको ठीक-ठीक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण जान सकता है अथवा तपस्वी क्षत्रिय। दूसरा इसे नहीं सीख सकता।

इस प्रकार नकारात्मक उत्तर पाकर कर्ण आगबबूला हो उठा। वह क्रोधसे जलने लगा। उसे हीन माना गया था, दोष-दुर्गुणयुक्त कहा गया था, इससे उसके अहंकारको चोट लगी थी।

किस प्रकार अपने अपमानका बदला लिया जाय ? अब वह यही कुटिल योजनाएँ बनाने लगा।

सोचते-सोचते उसे बदला लेनेकी एक योजना सूझ गयी। दुष्टलोग दुष्टताके अनुचित तरीकोंसे दूसरोंको नीचा दिखानेकी बात सोचते रहते हैं।

कर्णने निश्चय किया कि द्रोणाचार्य भले ही मुझे ब्रह्मास्त्र-विद्या न सिखलायें, पर मैं यह विद्या गुरु परशुरामजीसे सीख आऊँगा। मैं किसी भी युक्तिसे परशुरामजीको मना लूँगा। उनकी खूब सेवा करूँगा। सूर्यके समान तेजस्वी परशुराम क्षत्रियोंके कट्टर शत्रु थे। वे बड़े बलवान् थे। उन्होंने क्रोधसे इक्कीस बार पृथ्वीसे क्षत्रियोंका निशान मिटा दिया था।

कर्ण परशुरामजीकी इस कमजोरीकी बातको जानता था; इसलिये उसने अपनी क्षत्रिय जाति छिपायी। झूठ बोला। यदि वह अपनेको क्षत्रिय बतलाता तो परशुराम कदापि उसे ब्रह्मास्त्रविद्या न सिखलाते।

महाराज ! मैं भार्गव गोत्रका एक विद्यार्थी हूँ। विद्याप्रेमी, सेवाभावी, उत्साही युवक हूँ। युद्धविद्याके प्रति मेरी बड़ी रुचि है। जिज्ञासु हूँ। मुझे ब्रह्मास्त्र-विद्या सिखलाइये।

परशुराम—'देखो युवक ! तुम्हें मेरे यहाँ रहकर पूरे ध्यानसे समझकर उत्साहसे परिश्रम करना होगा। नियमित समयपर उठना, सोना, खेलना और आश्रमका समस्त कार्य करना होगा। अभ्यासके लिये प्रातःकालका समय उत्तम है, क्योंकि इस ब्राह्ममुहूर्तमें शिष्यका मस्तिष्क और शरीर दोनों ही तरोताजे रहते हैं। जल्दी उठा करोगे ?'

कर्ण—'गुरुदेव ! मुझे शिष्यत्वकी सब शर्तें मंजूर हैं।'

'तो ठीक है। भार्गवगोत्रीय विद्यार्थी ! तुम हमारे शिष्य हुए। हमारे आश्रममें निवासकर विद्या प्राप्त करोगे।'

फिर तो कर्णने अपने गुरु परशुरामकी मन लगाकर सेवा की। उस सेवासे गुरुजी सदा ही संतुष्ट और प्रसन्न रहे। परशुरामजीने उसे ब्राह्मण जानकर ब्रह्मविद्या सिखलायी। कर्ण अपनी सेवासे गुरुजीका परमप्रिय शिष्य बन गया। परशुरामजी जातिकी बात भूल गये। पर जब कीड़ेके द्वारा काटनेसे जाँघके लहू-लुहान हो जानेपर भी कर्णने उफ तक न की तो गुरुजी समझ गये कि यह निश्चित ही कोई क्षत्रिय बालक है।

अब तो कर्णको सच-सच बतलाना पड़ा कि वह क्षत्रिय ही है। 'मेरा अपराध क्षमा कीजिये गुरुदेव !' उसने विनीत स्वरमें प्रार्थना की।

लेकिन परशुरामजी क्रोधसे भर गये और तत्काल शाप दिया—'कर्ण ! ब्रह्मास्त्र-विद्या सीखनेके लोभसे तू झूठ बोला। झूठ धर्ममें सबसे बड़ा पाप है। झूठा सदा ही अपमानित होता है। झूठ अधिक दिनतक छिपता नहीं। झूठ बोलनेकी यह सजा देता हूँ कि समय पड़नेपर, विपत्तिके क्षणोंमें तुझे सीखी हुई ब्रह्मास्त्र-विद्या याद न आयेगी। विपत्तिके क्षणोंमें इस सारी तपस्याका कोई भी लाभ तुझे नहीं मिलेगा। मेरा आश्रम झूठका नहीं है। इसलिये तू फौरन् यहाँसे चला जा। मैं झूठेपर विश्वास नहीं कर सकता।'

महाभारतके युद्धमें अर्जुनके साथ लड़ते-लड़ते अन्त-समयमें कर्ण ब्रह्मास्त्र-विद्यामें चूक गया और मारा गया। उसे झूठकी भयानक सजा मिली।

नाविरतो दुश्चरिता-
न्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि
प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठोपनिषद् १।२।२४)

भाव यह कि जो मनुष्य बुरे आचरणों—झूठ, चोरी, व्यभिचार, छल-कपट आदिको नहीं छोड़ता तथा लोभ, क्रोध, राग-द्वेषादिसे सदा क्षुब्ध रहता है, वह केवल ज्ञानमात्रसे ब्रह्मको नहीं पा सकता।

माधुर्य

गोरी श्रीवृषभानु-लली।
सुन्दर स्याम साँवरे सजनी जोरी मिली भली॥
इनको वदन विमल विधु आली उत वे उदधि अगाध।
इनकी प्रीति-रीति जो जाने सोई साँचो साध॥
कोउ कह माया-ब्रह्म दोऊ कोउ प्रकृति-पुरुष करि मानैं।
बेदनकी यह बात बड़ी हम कहा गँवारिन जानैं॥
अपने तो जीवनधन ये ही ऐतौ मतौ विचारैं।
इनकी रूपछटामें छकि-छकि कहा न इनपै वारैं॥

—मुनिलाल

व्रत-परिचय

[गताङ्क पृ०-सं० ५६२ से आगे]

(३२) प्रातः-सायं (संध्या) और संधियोंमें, जप, भोजन और दातौनमें, मूत्र और पुरीषके त्यागमें और पितृकार्य तथा देवकार्यमें और दान, योग तथा गुरुके समीपमें मौन रहनेसे मनुष्यको स्वर्ग मिलता है—'**मौनं सर्वार्थसाधकम्**।' दान, होम, आचमन, देवार्चन, भोजन, स्वाध्याय और पितृतर्पण—ये 'प्रौढपाद' (उकड़ू) बैठकर न करे। प्रौढपाद तीन प्रकारका होता है, एक यह कि पाँवोंके तलवे आसनपर रखकर—दोनों घुटने मिलाकर पींडियोंको जाँघोंसे लगाकर बैठे। दूसरा—दोनों घुटने आसनपर लगाकर एड़ियोंपर आरूढ़ हो और तीसरा यह है कि दोनों पैर सीधे फैलाकर जाँघें आसनपर लगाये। ये तीनों ही निषिद्ध हैं।

(३३) कन्या,[1] शय्या (सुख-शय्या), मकान, गौ और स्त्री—ये एकहीको देने चाहिये, बहुतोंको देनेपर हिस्सा होनेसे पाप लगता है। व्रतमें रहकर प्राणरक्षाके अर्थसे जल पीये। फल, मूल, दूध, जौ, यज्ञशिष्ट तथा हवि खाय; रोग-पीड़ामें वैद्यकी बतलायी हुई औषध ले और ब्राह्मणकी अभिलाषा सिद्ध करे। दीर्घ या अदीर्घ सभी व्रतोंकी पारणासे पूर्ति और उद्यापनसे समाप्ति जाननी चाहिये। कदाचित् ये दोनों न किये जायँ, तो व्रत निष्फल हो जाता है।

(३४) व्रतोंमें बहुत-से व्रत ऐसे हैं जो व्रत, पूजा और दान—तीनोंके सहयोगसे सम्पन्न होते हैं। उनके विषयके कुछ आवश्यक वाक्य यहाँ देते हैं।

१-'ब्राह्मण[2]' शान्त, संत, सुशील, अक्रोधी और प्राणिमात्रका हित करनेवाला श्रेष्ठ होता है।

२-'ब्राह्मके कर्म[3]' अग्निहोत्र, तपश्चर्या, सत्यवाक्य, वेदाज्ञाका पालन, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव-साधन मुख्य हैं।

३-'यज्ञोपवीत[4]' त्रैवर्णिकोंके और विशेषकर ब्राह्मणोंके स्वरूपज्ञानका आदर्श और धर्म-कर्मादिका साधन है। यह सूत, रेशम, गोवाल (सुरगौके रोम), सन, वल्कल और तृणपर्यन्तसे निर्माण किया जाता है। इनसे बने हुए यज्ञोपवीत कार्यानुसार उपयुक्त होते हैं। सूतका सर्वप्रधान है। उसके बनानेके लिये सूतके धागेको वामावर्तसे तिगुना करके दक्षिणावर्तसे नौगुना करे और उसे त्रिसर बनाकर गाँठ लगाये।

४-यज्ञोपवीत धारण करते समय '**यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं०**'का उच्चारण करे और विसर्जनके समय '**एतावद्दिनपर्यन्तम्०**' से क्षमा माँगे, बायें कंधेपर यज्ञोपवीत रहनेसे सव्य और दायेंपर रहनेसे अपसव्य होता है। और दोनोंके बदले गलेमें रहनेसे कण्ठीवत् हो जाता है। मूत्रादिके त्यागनेमें इसे दक्षिण कर्णस्थ रखना आवश्यक है और इसके बिना मल-मूत्रका त्याग करना निषिद्ध माना गया है।

५-यज्ञोपवीतको स्वाभाविक रूपमें बायें कंधेके ऊपर और दाहिने हाथके नीचे नाभितक लटकाये रखना चाहिये। नित्यकर्मादिमें दो वस्त्र (धोती और रूमाल) एवं दो यज्ञोपवीत (एक नित्यका और एक कार्यका) रखना चाहिये और यदि रूमाल न हो तो तीन यज्ञोपवीत होने चाहिये। धारण किये हुए यज्ञोपवीतको चार मास हो जायँ या जन्म-मरणादिका सूतक आ जाय तो उसे बदल देना चाहिये[6]।

६-'कलश' सोने, चाँदी, ताँबे या (छेदरहित) मिट्टीका और सुदृढ़ उत्तम माना गया है। वह मङ्गलकार्योंमें मङ्गलकारी

१-कन्या शय्या गृहं चैव देयं यद्वोस्त्रियादिकम्। तदेकस्मै प्रदातव्यं न बहुभ्यः कथंचन॥ (कात्यायन)

२-शान्तः संतः सुशीलश्च सर्वभूतहिते रतः। क्रोधं कर्तुं न जानाति स वै ब्राह्मण उच्यते॥ (धन्वन्तरि)

३-अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ (अङ्गिरा)

४-कार्पासक्षौमगोवालशणवल्कलतृणादिभिः। (हरिहरभाष्य)

वामावर्तं त्रिगुणितं कृत्वा प्रदक्षिणावर्ते नवगुणं विधाय तदेवं त्रिसरं कृत्वा ग्रन्थिं विदध्यात्। (ह०ह०)

५-यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ (ब्रह्मकर्म)

[illegible]

६-सूतके मृतके चैव गते मासचतुष्टये। नवयज्ञोपवीतानि धृत्वा पूर्वाणि संत्यजेत्॥ (मुक्तक)

होता है।

७-'मधुरत्रय'[1] में घी, दूध और शहद मुख्य हैं।

८-'मधुपर्क'[2] दही एक भाग, शहद दो भाग और घी एक भाग मिलानेसे होता है।

९-'कालत्रय'[3] प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल हैं।

१०-'कालचतुष्टय'[4]—रात्रि व्यतीत होते समय ५५ घड़ीपर 'उषःकाल', ५७ पर 'अरुणोदय', ५८ पर 'प्रातःकाल' और ६० पर 'सूर्योदय' होता है। इसके पहले पाँच घड़ीका 'ब्राह्ममुहूर्त' ईश्वरचिन्तनका है।

११-'चतुःसम'[5]—कपूर, चन्दन, कस्तूरी और केसर—ये चारों समान भागमें होनेपर 'चतुःसम' कहलाते हैं।

१२-'पञ्चदेव'—सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णु आराध्य हैं। गणेशाजीकी एक, सूर्यकी दो, शक्तिकी तीन, विष्णुकी चार और शिवकी आधी प्रदक्षिणा नियत है।

१३-'पञ्चोपचार'[6]—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पण करनेसे पञ्चोपचार-पूजा होती है।

१४-'पञ्चपल्लव'[7]—पीपल, गूलर, पाकड़, आम और वट—इनके पत्ते पञ्चपल्लव हैं।

१५-'पञ्चगव्य'[8]—ताँबेके वर्ण-जैसी गौका गोमूत्र **'गायत्री'**से आठ भाग, लाल गौका गोबर **'गन्धद्वारां॰'** से सोलह भाग, सफेद गौका दूध **'आप्यायस्व॰'** से बारह भाग, काली गौका दही **'दधि क्राव्णो॰'** से दस भाग और नीली गौका घी **'तेजोऽसि शुक्र॰'** से आठ भाग लेकर मिलाने और फिर उन्हें छान लेनेसे पञ्चगव्य होता है। इस प्रकारसे तैयार किये हुए पञ्चगव्यको **'यत् त्वगस्थिगतं पापं॰'** से तीन बार पीये तो देहके सम्पूर्ण पाप-ताप, रोग और वैर-भाव नष्ट हो जाते हैं।

१६-'पञ्चामृत'—गौके दूध, दही और घीमें चीनी और शहद मिलाकर छाननेसे पञ्चामृत बनता है और इसका यथाविधि उपयोग करनेसे शान्ति मिलती है।

१७-'पञ्चरत्न'—सोना, हीरा, नीलमणि, पद्मराग और मोती—ये पाँच रत्न हैं।

१८-'पञ्चाङ्ग' तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करणका ज्ञापक है। इससे व्रतादि निश्चय होते हैं।

१९-'षट्कर्म'[9]—१. स्नान, २. संध्या-जप, ३. होम, ४. पठन-पाठन, ५. देवार्चन और ६. वैश्वदेव तथा अतिथि-सत्कार—ये छः कर्म हैं। द्विजातिमात्रके लिये इनका करना परम आवश्यक है।

२०-'षडङ्ग'[10]—हृदय, मस्तक, शिखा, दोनों नेत्र, दोनों भुजा और परस्पर कर-स्पर्श षडङ्ग हैं।

२१-'वेद-षडङ्ग'—कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, शिक्षा और ज्योतिष—ये छः शास्त्र वेदके अङ्ग हैं।

२२-'सप्तर्षि'—कश्यप, भरद्वाज, गौतम, अत्रि,

१-आज्यं क्षीरं मधु तथा मधुरत्रयमुच्यते। (कात्यायन)

२-दधिमधुघृतानि विषमभागमिलितानि मधुपर्कः। (कर्मप्रदीप)

३-प्रार्तमध्याह्नसायाह्नास्त्रयः कालाः। (श्रुति)

४-पञ्च पञ्च उषःकालः सप्तपञ्चारुणोदयः। अष्ट पञ्च भवेत् प्रातस्ततः सूर्योदयः स्मृतः॥ (विष्णु)

५-कर्पूरं चन्दनं दर्पः कुंकुमं च चतुःसमम्। (गृह्यपरिशिष्ट)

६-गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं पञ्च ते क्रमात्। (जाबालि)

७-अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः । (ब्रह्माण्डपुराण)

८-गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। (पाराशर)
ताम्रारुणश्वेतकृष्णनीलानामाहरेद् गवाम्। (वीरमित्रोदय—स्कन्दपुराण)
अष्ट षोडश अर्कांशा दश अष्ट क्रमेण च। (नृसिंह)
गायत्र्या गन्धद्वारां च आप्यायदधिक्रावणः। तेजोऽसि शुक्रमन्त्राच्च पञ्चगव्यम्प्रकारय॥ (स्कन्द)
यत् त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके। प्राशनात् पञ्चगव्यस्य दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥ (ब्रह्मकर्म)

९-स्नानं संध्या जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्। वैश्वदेवातिथेयश्च षट् कर्माणि ·········· ॥ (पराशर)

१०-वक्षः शिरः [illegible]

जमदग्नि, वसिष्ठ और विश्वामित्र—ये सप्तर्षि हैं।

२३-'सप्तगोत्र'[१]—पिता, माता, पत्नी, बहिन, पुत्री, फुआ और मौसी—ये सात गोत्र (कुटुम्ब) हैं।

२४-'सप्तमृद्'[२]—हाथी-घोड़ेके रहनेका स्थान, चौराहा, बिमौट, सरिता-संगम, तालाब, गोशाला और राजद्वारमें प्रवेश करनेकी जगह—इन स्थानोंकी मृत्तिका सप्तमृद् हैं।

२५-'सप्तधान्य'[३]—जौ, गेहूँ, चावल, तिल, कंगुनी, श्यामाक (साँवा) और देवधान्य—ये सप्तधान्य हैं।

२६-'सप्तधातु'[४]—सोना, चाँदी, ताँबा, मारकूट, (पीतल) लौह, राँगा और सीसा—ये सप्तधातु हैं।

२७-'अष्टाङ्ग अर्घ'[५]—सरसोंमिश्रित जल, पुष्प, कुशाका अग्रभाग, दही, अक्षत, केशर, दूर्वा और सुपारी—इन आठ पदार्थोंसे अर्घ-सम्पादन किया जाता है।

२८-'अष्टमहादान'[६]—कपास, नमक, घी, सप्तधान्य, सुवर्ण, लौह, पृथ्वी और गौ—ये महादान हैं।

२९-'नवरत्न'—माणिक, मोती, मूँगा, सुवर्ण, पुखराज, हीरा, इन्द्रनील, गोमेद और वैदूर्यमणि—ये नवरत्न हैं। इनके धारण करने या दान देनेसे सूर्यादि ग्रहोंकी प्रसन्नता बढ़ती है।

३०-'दशौषधि'[७]—कूट, जटामांसी, दोनों हल्दी, मुरा, शिलाजीत, चन्दन, बच, चम्पक और नागरमोथा—ये दस द्रव्य दशौषधिके हैं।

३१-'दश दान'[८]—गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, घी, वस्त्र, धान्य, गुड़, चाँदी और लवण—ये दस महादान हैं।

३२-'नमस्कार'[९]—अभिवादनके समय जो मनुष्य दूर हो, जलमें हो, दौड़ रहा हो, धनसे गर्वित हो, नहाता हो, मूढ़ हो या अपवित्र हो तो ऐसी अवस्थामें उसे नमस्कार नहीं करना चाहिये। सोये व्यक्ति तथा भोजनके समय भी अभिवादन नहीं करना चाहिये। अस्तु,

इस प्रकारके आचार-विचार, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ और हरिस्मरण—ये सब स्वर्गीय सुख प्राप्त होनेके प्रधान साधन हैं। निष्कामभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ किये गये ये ही सत्कर्म एवं पुण्यानुष्ठान भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक बन जाते हैं। (क्रमशः)

—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा

मृत्युसे पहले-पहले निःश्रेयसके लिये प्रयत्न करे

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ (श्रीमद्भागवत ११।९।२९)

अनेक जन्मोंके उपरान्त इस परम पुरुषार्थके साधनरूप नर-देहको [जो अनित्य होनेपर भी परम दुर्लभ है] पाकर धीर पुरुषको उचित है कि जबतक वह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे, तबतक शीघ्र ही अपने निःश्रेयस (मोक्ष)-प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर ले, क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं [इनके संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको न खोवे। मनुष्य-जन्मकी सफलता तो निःश्रेयसकी प्राप्तिमें ही है।]

१-पितुर्मातुश्च भार्याया भगिन्या दुहितुस्तथा। पितृष्वसामातृष्वस्रोर्गोत्राणां सप्तकं स्मृतम्॥ (धाता)

२-गजाश्वरथ्यावल्मीकसंगमाद्ध्रदगोकुलात्। राजद्वारप्रवेशाच्च मृदमानीय निःक्षिपेत्॥ (स्मृतिसंग्रह)

३-यवगोधूमधान्यानि तिलाः कङ्गुस्तथैव च। श्यामाकं देवधान्यं च सप्तधान्यमुदाहृतम्॥ (स्मृत्यन्तर)

४-सुवर्णं राजतं ताम्रं मारकूटं तथैव च। लौहं त्रपु तथा सीसं धातवः सप्त कीर्तिताः॥ (भविष्यपुराण)

५-दधिदूर्वाकुशाग्रैश्च कुसुमाक्षतकुंकुमैः। सिद्धार्थोदकपूगैश्च अष्टाङ्गं ह्यर्घ्यमुच्यते॥ (पूजापद्धति)

६-कार्पासं लवणं सर्पिः सप्तधान्यं सुवर्णकम्। लौहं चैव क्षितिर्गावो महादानानि चाष्ट वै॥ (दानखण्ड)

७-कुष्टं मांसी हरिद्रे द्वे मुरा शैलेयचन्दनम्। बचाचम्पकमुस्ताश्च सर्वौषध्यो दश स्मृताः॥ (छन्दोगपरिशिष्ट)

८-गोभूतिलहिरण्याज्यवासोधान्यगुडानि च। रौप्यं लवणमित्याहुर्दश दानान्यनुक्रमात्॥ (कर्मसमुच्चय)

९-[illegible] धावन्तं [illegible] मूढं [illegible] नमस्कारांस्तु वर्जयेत्॥ (हारीतभाष्य)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

एक सत्यनिष्ठ बालककी अनुकरणीय ईमानदारी

इस घोर कलियुगमें लोभ, मोह, मद आदि षट्विकारोंका आतङ्क छाया हुआ है। प्रायः सर्वत्र आसुरी वृत्तियोंका साम्राज्य दीखता है, स्वार्थ एवं लोभने तो बड़े-बड़े लोगोंके मनको भी डिगा दिया है। यहाँ एक ऐसे निःस्पृह, स्वार्थरहित और ईमानदार बालकका चरित्र दिया जा रहा है, जो विद्यार्थी-समुदायके लिये अनुकरणीय एवं पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकता है। समाज, विद्यार्थी और बालक इससे प्रेरणा लें।

बात दिनाङ्क १३ मार्च १९८७ की है। उस दिन राजकीय सीनियर उच्च माध्यमिक विद्यालय कपासन, राजस्थानके नवीं कक्षाके विज्ञानका छात्र भगवतीनाथ दिनके १२ बजे कपासन जल-विभागके कार्यालयमें अपने घरके पानीके बिलकी रकम जमा करके आ रहा था। कार्यालयके परिसरमें मुख्यद्वारके पास उसे एक लिफाफा पड़ा मिला। बालकने उसे उठाकर देखा तो उसमें चार सौ पचास रुपये थे। विद्यार्थीने आस-पासके कई लोगोंसे पूछ-ताछ की कि किसीका लिफाफा तो नहीं गिरा है। इधर-उधर पर्याप्त पूछ-ताछके पश्चात् उसने जल-विभागके सहायक अभियन्ताके पास जाकर उन रुपयोंको जमा कर दिया और उसकी रसीद ले ली तथा रुपये कैसे मिले इसकी सारी घटना भी उन्हें बता दी। अभियन्ता महोदयने वह रकम अपने लेखा-लिपिकको सौंप दी। फिर वह बालक वापस लौट आया। उसने कार्यालयके बाहर बाजारमे कई लोगोंसे इसकी चर्चा की, किंतु किसीने भी हाँमी नहीं भरी। घर आकर उसने अपने दादाको भी यह घटना सुनायी।

इधर बस-स्टैंडपर रुपयोंके मालिक श्रीकेसरसिंह राठौर अपनी खोयी हुई रकमकी तलाश कर रहे थे और कह रहे थे कि मेरे रुपयोंका लिफाफा कहीं गिर गया है। उन्हें लोगोंसे पता चला कि रुपये भगवतीनाथको मिले हैं। वे उसके घर आये तथा बालकसे रुपयोंकी जानकारी ली और प्रसन्न-मनसे श्रीसिंहने लेखा-लिपिक और भगवतीनाथको नोटोंकी पूरी राशि बता दी। श्रीसिंह जल-विभागसे रुपये प्राप्तकर बालकके पास आये और एक सौ एक रुपये उसे देने लगे। विद्यार्थीने अपना धर्म और कर्तव्य समझकर रुपये लेनेसे बिलकुल इनकार कर दिया। इस घटनासे पूरे नगरमें बालककी ईमानदारीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी। साथ ही राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय कपासनके प्रधानाचार्यने पूरे शिक्षकों और विद्यार्थियोंके समक्ष प्रार्थना-स्थलपर भगवतीनाथकी ईमानदारीपर उसे बहुत साधुवाद दिया और स्कूलकी ओरसे उसे अभिशंसा-पत्र भी प्रदान किया गया। साथ ही छात्रोंसे अपनी कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारीकी प्रेरणा इस बालकसे लेनेका आग्रह किया। सभी छात्र एवं अध्यापक-वृन्द बालक भगवतीनाथकी प्रशंसा करने लगे।

वास्तवमें सत्यता और ईमानदारी देशकी अमूल्य निधि है। सत्यनिष्ठ ईमानदार बालकोंसे ही यह देश समृद्धिको प्राप्त होगा। —अध्यक्ष, अखिल भारतवर्षीय नाथसमाज

(२)

आस्थामें कमी न होने दो

घटना २१ मई १९७८ की है। मैं अपने एक मित्रके विवाहमें देवरिया जा रहा था। मैं 'वाराणसी-भटनी पैसेंजर' ट्रेनमें यात्रा कर रहा था, जो रात्रिके दो बजे अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचती है। गाड़ीमें चर्चाके दौरान मैंने अपने सहयात्रीको बताया कि मैं अमुक स्टेशनपर उतरूँगा और पहली बार इस ओरकी यात्रा कर रहा हूँ। रात्रिका सफर था, थकानके कारण मुझे कुछ देर बाद ही नींद आ गयी। बेल्थरारोड नामक एक स्टेशनसे जैसे ही गाड़ी चली, अचानक मेरी नींद खुल गयी। जैसे ही मेरी दृष्टि अपने सामानपर गयी मेरा जी धक्से रह गया, क्योंकि मेरा ब्रीफकेस गायब था। मैं घबड़ा गया। आस-पास देखा तो पाया कि वह सहयात्री भी गायब है, जिसके साथ मैंने बात की थी। मुझे उसपर ही संदेह हुआ। ब्रीफकेसमें ही मेरे कपड़े और अन्य आवश्यक सामान थे। मेरे पास शरीरपर पहने हुए कपड़ोंके सिवा और कुछ न रहा। जब मैंने डिब्बेके अन्य लोगोंसे पूछा तो उन्होंने भी अनभिज्ञता प्रकट की। मैंने अगले स्टेशन लाररोड पहुँचकर पुलिसमें रिपोर्ट करानी चाही, मगर छोटा स्टेशन होनेके कारण

वहाँ ऐसी व्यवस्था न थी। वहाँके लोगोंने कहा—'आप पुनः पिछले स्टेशनपर जाइये, जहाँसे आपका सामान चोरी हुआ है। यदि भाग्यमें होगा तो वह आपको पुनः मिल जायगा।'

मुझे सामान मिलनेकी तो आशा नहीं थी, फिर भी भगवान्का नाम ले मैं दूसरी गाड़ीसे पुनः बेल्थरारोड पहुँचा। वहाँ जाकर मैंने सारा प्लेटफार्म और कई गाड़ियाँ देख डालीं, पर उस उचक्केका कहीं पता न चला। मैंने वहीं एक रेल-कर्मचारीको भी अपने सारे सामानकी जानकारी और उस उचक्के सहयात्रीका हुलिया और पहचान बता दी। बहुत देरतक मैं वहाँपर बैठा रहा। चारों ओरसे निराश होकर मैं आशाके एकमात्र धाम प्रभुसे प्रार्थना करने लगा। मैंने अपने गुरुद्वारा प्रदत्त मन्त्रका एक हजार बार जप किया और हनुमानचालीसा, बजरंगबाण और हनुमानाष्टकका पाठ किया। तीन घंटे बीत गये। इन क्षणोंमें मैं निराश्रित होकर प्रभु-प्रार्थनामें तल्लीन था। जैसे-जैसे समय बीत रहा था, वैसे-वैसे मेरा धैर्य छूटता जा रहा था। मुझे लगा कि इस कठिनाईकी घड़ीमें भगवान् भी पाषाण-हृदय हो गये हैं। मेरी प्रार्थनाका भी उनपर कोई प्रभाव नहीं हुआ। मेरा भगवान्के प्रति विश्वास छूटता जा रहा था और अगली ट्रेनसे बनारस लौट जानेकी इच्छा बलवती होती जा रही थी। अन्ततः मैं वाराणसी लौटनेको तैयार हो गया। मगर वे लीलामय प्रभु तो जैसे मेरे धैर्यकी ही परीक्षा ले रहे थे। जैसे ही उन्होंने जाना कि अब मेरा धैर्य चूक गया है, उन्होंने अपना चमत्कार प्रदर्शित किया। मैं वापस जानेको उठ ही रहा था कि वह रेलकर्मचारी, जिन्हें मैंने अपने सामानकी चोरी और उस उचक्केके बारेमें बताया था, आ गये और बोले—'चलिये आपका सामान मिल गया।' सुनकर मैं आश्चर्यचकित हो गया। यह असम्भव-सी बात सम्भव कैसे होने लगी। भगवान्की असीम कृपा देख मेरी आँखोंमें हर्षके आँसू आ गये। मुझे इस बातका पश्चात्ताप होने लगा कि मैंने भगवान्की कृपापर संदेह किया। मैं यह सोचकर ग्लानिसे भर उठा कि मुझमें धैर्यकी कमी थी, आस्थाकी कमी थी, भगवान्के प्रति मेरा विश्वास डगमगाने लगा था। पूछनेपर उन रेल-कर्मचारी सज्जनने बताया—'जब मैं ड्यूटी खत्म होनेपर घर लौट रहा था तो बस-स्टैंडपर आपके बताये हुए हुलियेके एक व्यक्तिको देख मुझे शक हुआ। उससे पूछताछ करने और उसकी तलाशी लेनेपर आपकी बातोंकी पुष्टि हो गयी। मैं उसे चार व्यक्तियोंकी निगरानीमें छोड़कर आया हूँ।' बस फिर क्या था, भगवान्की अपार कृपा और अनुग्रहका स्मरण करता मैं तुरंत उन सज्जनके साथ रिक्शेसे बस-स्टैंड पहुँचा। देखा कि मेरे सामानके साथ उसी सहयात्रीको लोगोंने पकड़ रखा है। मुझे देख वह गिड़गिड़ाने लगा और क्षमा माँगने लगा। उसकी यह दीन-दशा देखकर मैंने लोगोंसे उसे छोड़ देनेका आग्रह किया। वह हाथ जोड़ते हुए शीघ्रतासे भाग गया। मैंने ब्रीफकेस खोलकर देखा तो उसमें सारा सामान ज्यों-का-त्यों था। मैंने उन सज्जनको धन्यवाद दिया, जिन्हें दयासिन्धु भगवान्ने अपना दूत बनाकर मेरी सहायताके लिये भेजा था। उस दिन मैंने इस बातका पाठ ग्रहण किया कि चाहे कितनी ही विपरीत परिस्थिति क्यों न हो, मगर भगवान्के प्रति आस्था और विश्वासमें कभी कमी नहीं आने देनी चाहिये। अपने प्रति दृढ़ आस्था और विश्वास रखनेवालेको वे भक्तवत्सल भगवान् कभी निराश नहीं करते।—गिरीशनारायण

(३)

देवदूत अब भी आते हैं

बात उस समयकी है, जब मैं छठी कक्षाका छात्र था। मैं अत्यन्त निर्धन परिवारका सदस्य था। उन्हीं दिनों मैं 'राष्ट्रिय ग्रामीण छात्रवृत्ति' की परीक्षाके लिये चुना गया। परीक्षा देनेके लिये मुझे भागलपुर जाना था। वहाँ जानेके लिये न मेरे पास रुपये थे और न पिताजीके पास ही। किसीसे रुपये माँगना भी मैं नहीं चाहता था। मुझे लगा अब मैं परीक्षा नहीं दे पाऊँगा। यह सोचकर मैं बहुत दुःखी हो गया। क्योंकि यदि मैं यह परीक्षा दे पाता और मुझे छात्रवृत्ति मिलने लगती तो मैं भलीप्रकार अध्ययन करने और अच्छी शिक्षा प्राप्त करनेकी इच्छा पूर्ण कर पाता। परीक्षाका जब एक दिन ही बचा तो मुझे लगा कि परीक्षा दे पाना मेरे भाग्यमें बिलकुल ही नहीं लिखा है, अतः अत्यन्त दुःखी मनसे मैं उस पहाड़पर चल दिया, जहाँ प्रतिदिन जाकर मैं भगवान्का कीर्तन किया करता था।

उस दिन मेरा हृदय पीड़ासे भरा हुआ था, इसलिये कीर्तन करते समय वह पीड़ा उमड़ आयी और मेरे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। मैं बड़ी देरतक खूब रो-रोकर भगवान्का कीर्तन करता रहा। उस समय मुझे न सिर्फ अपने

चारों ओर अँधेरा दिख रहा था, अपितु अपना सारा जीवन ही मुझे अन्धकारमय दिख रहा था। रोते हुए कीर्तन करते बहुत देर हो गयी। अचानक मुझे अपने हृदयके भीतर दिव्य प्रकाशकी अनुभूति हुई, मुझे लगा जैसे कोई मुझसे यह कह रहा है—'बेटा ! चिन्ता मत करो। जो हृदयसे मेरा स्मरण करता है, मेरा कीर्तन करता है, उसे मैं कभी निराश नहीं करता। तुम्हें भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम परीक्षा देना चाहते हो ना ? मेरा आशीर्वाद है तुम अवश्य परीक्षा दोगे और सफलता प्राप्त करोगे।' इतना कहकर भीतरकी वह आवाज शान्त हो गयी। मैं विस्मित-चकित बहुत देरतक इसी बारेमें सोचता रहा। कुछ देर बाद मुझे सहसा भगवत्प्रेरणा हुई और मैं स्कूलकी ओर चल दिया।

स्कूल पहुँचा तो मुझे एक सहपाठी मिल गया जो स्वयं भी परीक्षा देने जा रहा था। उसने मुझसे पूछा—'क्या तुम परीक्षा देने नहीं जा रहे हो ?' मैं कुछ कह न सका। वह मेरी परिस्थितिसे परिचित था, इसलिये बिना कुछ कहे भी सारी बात समझ गया। वह प्यारसे मेरे कंधेपर हाथ रखकर बोला—'तुम चिन्ता मत करो, मेरे साथ परीक्षा देने चलो। जो भी व्यय होगा सब मैं ही करूँगा।' मैं चकित होकर भगवान्‌की वह लीला देख रहा था। मैं भागलपुर परीक्षा देने गया और सफल भी हुआ। उसके परिणामस्वरूप मुझे अभी भी 'राष्ट्रिय ग्रामीण छात्रवृत्ति' मिल रही है। परमपिताकी उस कृपाका स्मरणकर आज भी आँखें भर आती हैं। यदि उस दिन प्रभु स्वयं उस सहपाठीके रूपमें न आते तो आज न जाने मेरा क्या हाल होता। सचमुच ही वह देवदूत बनकर आया था, भगवान्‌ने उसे प्रेरणा प्रदान कर मेरा सहयोग किया, वास्तवमें यह प्रभु-कृपा ही थी, उन्हींकी इच्छासे ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ, तबसे मेरी आस्था और दृढ़ हो गयी है।—सदानन्द

(४)

नाम परतापतें काल कंटक टलै

बात विगत दीपावलीके दिनोंकी है। खेड़ापा ग्रामसे लगभग तेरह-चौदह कि॰मी॰ दूरस्थ ग्राम बिराईके चिणकार कुएँका एक बालक घेवरराम मेरे पास आया। उसने व्याकुल होते हुए कहा—गत ३० सितम्बर ९१ की बात है। रातको मैं एकाएक बेहोश हो गया था। कुछ होश आनेपर मुझे किसी महात्माकी आवाज सुनायी पड़ी—'घबराओ मत। तीन दिनमें ठीक हो जाओगे।' मेरे मना करते रहनेपर भी घरवालोंने जहाँ-तहाँ डॉक्टरोंसे बहुत उपचार कराया। पर कोई लाभ नहीं हुआ। इधर जैसे ही महात्माजीका बताया समय आया कि उन्हीं महात्माजीका पुनः शब्द सुनायी पड़ा—'इस बार अब ठीक हो गये हो। पर सावधान ! आगामी होलीके बाद दिनाङ्क २० मार्चके ९२के दिन प्रातः १० बजेसे दिनके १ बजेके समय तुम्हारा घात (मरण) है। यदि गुरुधामकी सेवामें संलग्न होओगे तो बचाव हो सकता है।' उस समय स्वप्न-जंजाल या मतिभ्रम समझकर मैंने इसे एक सामान्य बातमें ले लिया।

होलीसे एक माह पूर्व खेड़ापा आकर उसने पुनः मुझसे हठ करते हुए कहा—'आपको २० मार्चको दिनमें तीन घंटोंके लिये मेरे यहाँ आना पड़ेगा।' मैंने समझाया—'होली मेलेकी अतिशय व्यस्तताके कारण मेरा वहाँ आ पाना असम्भव है। यदि कुछ संदेह है तो तुम स्वयं यहाँ आकर रह जाओ।' होलीसे ७-८ दिन पूर्व घेवरराम रामधाम खेड़ापामें आकर निष्कामभावसे सेवामें लग गया।

होली मेलेके रूपमें समायोजित होनेवाले सभी कार्य समयानुसार सम्पन्न हो गये। अबतक घेवरराम पूर्णरूपेण स्वस्थ था। चैत्र कृष्ण २ अर्थात् २० मार्चकी सुबह उसे चिन्तित होता देख दूध पिलाकर मन्दिरके सामने गुरुवाणीका पाठ करने बैठा दिया। उस समय सभी अपने-अपने कार्यमें संलग्न थे। ज्यों ही घड़ीमें सुबहके दस बजे पुस्तक हाथमें लिये घेवरराम जहाँ बैठा था, वहींपर बेहोश होकर लुढ़क गया। मुखसे उफ तक नहीं बोल सका। तत्काल खबर लगते ही पास पहुँचकर देखता हूँ तो वह निष्प्राणवत् पड़ा है। मुख तथा आँखें बंद हैं और श्वास दबी-दबी आ रही है। इस काल-चक्रको देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोग दंग रह गये। मुझे लगा ४-५ माह पूर्व कही उसकी बातोंको स्वप्न-जंजाल मानना मेरी अपनी भूल थी।

होली-मेलेके कारण उस स्थानपर आये कुछ वैद्यजनोंने घेवररामकी इस दशाको अपस्मार अथवा मृगीके कारण आयी मूर्छा समझकर तदनुसार काफी उपचार किया, किंतु इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। अब बालकको बचानेका दूसरा कोई उपाय नहीं सूझनेसे उसे गुरुचरणोंमें लिटा दिया और

मुखमें चरणामृत डालते हुए गुरुवाणीमें आये रक्षण-मन्त्र-रामरक्षा तथा रामरक्षाकवचका पाठ चालू कर दिया। अन्य लोग भी राम-नामका जप करते हुए उस बालकके जीवन-दान-हेतु रामगुरु महाराजसे हार्दिक प्रार्थना करने लगे। चरणामृत-पानके साथ रामरक्षादिका पाठ एकके बाद दूसरा करते हुए तीन घंटोंतक बराबर चालू रखा गया। इस तरह इन तीन घंटोंतक रामनामके साथ कालचक्रका घोर संग्राम चलता रहा। बीच-बीचमें कई बार घेवररामके शरीरमें नाड़ियोंमें तनाव (झटके) भी आने लगे थे और गर्दन भी लटक गयी थी। इसपर भी चरणामृत तथा रामरक्षादिका पाठ यथावत् चालू रखा गया। ज्यों ही घड़ीमें एक बजेकी घंटी बोली उस बालकने आँखें खोलीं। उसने चारों ओर देखा। पूछनेपर इशारेसे बताया कि छाती तथा गला बहुत दुख रहा है और कोई तकलीफ नहीं है। अब मैं ठीक हूँ।

इस तरह घेवररामको मिले इस नवजीवनको प्रत्यक्ष देख सबका दिल भर आया और राम महाराज तथा महापुरुषोंकी अहैतुकी कृपादृष्टि देख आँखें गीली हो गयीं। अभी वह घेवरराम कुछ समयतक गुरुधामकी सेवा करने-हेतु गुरुधाममें निवास कर रहा है और पूर्णतया स्वस्थ है—

'राम कृपा तें राम दास पद पद सिध आनन्द ता'

बालक घेवररामकी रक्षा-हेतु किये गये मुख्य गुरुवाणी और रामरक्षाकवचके पाठका एक अंश इस प्रकार है—

नाम परतापतें काल कंटक टलै, नाम परतापतें करम खोया।
नाम परताप डर डाकणी नां डसै, नाम परताप मन मैल धोया।
नाम परतापतें ताप त्रिविधा गई, नाम परताप ग्रह नांहि ग्रासै।
नाम परताप भव भरम भागा सबै, नाम परताप दुःख दूर न्हासै।

रामरक्षाकवच—

भव्व दैव दुःखहरण, राम करुणाके सागर।
आरत हरण उद्योत, जीव केतांन उजागर॥
श्वास श्वास विश्राम, आश पूरण अविनाशी।
निरधारां आधार, दीनबन्धू सुखराशी॥
शरणाई पिंजर विजै, प्रतिपालक महाराज है।
रामदास चिन्ता हरण, राम गरीब निवाज है॥

—पुरुषोत्तमदास रामस्नेही

मनन करने योग्य

लघुकी महत्ता

एक बार मेघोंके देवता वरुण और पृथिवीके बीच कुछ ऐसी अनबन हो गयी कि वरुणदेवने पृथिवीपर जल न बरसानेका दृढ़ निश्चय कर लिया।

कई वर्षोंतक वर्षा न होनेके कारण पृथिवी झुलस गयी। पशु-पक्षी, मनुष्य और वनस्पति तक भूख-प्याससे तड़प उठे और चारों ओर हाहाकार मच गया।

देवताओंके राजा इन्द्रके पास जब यह समाचार पहुँचा तो उन्होंने वरुणदेवको बुलाकर समझाया कि उन्हें अपना हठ छोड़कर प्यारी धरतीके प्राण बचाने चाहिये। लेकिन वरुणने इन्द्रकी इस बातको, और जब बातने आज्ञाका रूप ले लिया तो आज्ञाको भी स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया।

वरुणदेवके इस रुखसे देवताओंमें भी बड़ी खलबली मच गयी। इन्द्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन अभीतक किसी पदारूढ़ देवताने नहीं किया था। पृथिवीकी चिन्ताके बराबर ही अपनी शासन-व्यवस्थाको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी भी चिन्ता इन्द्रदेवको हो गयी।

लेकिन अन्तमें एक बड़े ही चातुर्यपूर्ण राजनीतिक कौशलसे—जिसकी चर्चा निःसंदेह विशेष आश्चर्यजनक और मनोरञ्जक होगी, किंतु प्रस्तुत कथा-लक्ष्यसे उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध न होनेके कारण उसे यहाँ नहीं उठाया जा रहा है, और इतना ही कहना पर्याप्त है कि—इन्द्रने वरुणको पृथिवीपर मेघ-मालाएँ ले जाकर जल बरसानेके लिये विवश कर दिया। वरुणने देखा कि यदि वह पृथिवीपर जल बरसाने नहीं जायगा तो अग्नि और वायुके देवता उससे असहयोग कर देंगे और उसके मेघोंका अस्तित्व ही मिट जायगा।

'आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं पृथिवीपर जल बरसाने जाता हूँ, यद्यपि मैंने ऐसा न करनेकी शपथ ले ली थी।' वरुणने चलते समय पराजित और उदास स्वरमें इन्द्रसे कहा।

'शपथका निर्वाह केवल मध्य कोटिके जीवोंके लिये

आवश्यक और आदरणीय है। निम्न कोटिके जीव प्रायः शपथका निर्वाह कर नहीं सकते और उच्च कोटिके जीवोंके लिये उसका निर्वाह अनावश्यक है, वे शपथके बन्धनमें नहीं रहते। अभी कुछ ही वर्ष हुए, विगत कौरव-पाण्डव-युद्धमें भगवान्ने श्रीकृष्णके रूपमें अपनी शपथको स्वयं ही तोड़कर युद्धमें अस्त्र उठाया था। आप तो उच्च कोटिकी एक देव-विभूति हैं, आपको शपथका बन्धन कैसा ! जाइये प्रसन्न मनसे पृथिवीको जीवन-दान दीजिये।' इन्द्रने सम्मानपूर्वक वरुणका उत्साह बढ़ाते हुए कहा, यद्यपि उनके इस कथनमें कहींपर कुछ व्यङ्ग भी था।

वरुणने पृथिवीपर मेघ-मालाएँ ले जाकर यथेष्ट जलवर्षा की। धरतीके सभी जीव प्रसन्नता और कृतज्ञतासे नाच उठे। पृथिवीलोकसे बड़े-बड़े राजा-महाराजा, ऋषियों-महर्षियों, पशु-पक्षी तथा वनस्पति-राज्योंके विविध शासकों तथा अनेक भूलोकवासी देवों और मनुष्योंकी ओरसे आये हुए धन्यवादों, बधाइयों और आशीर्वादोंका इन्द्रके पास ढेर लग गया। इन्द्रके तत्कालीन दरबार-सचिव सोमदेवने इन सभी संदेशोंका संकलन किया।

देव-दरबारमें ये सभी संदेश—बधाइयाँ, साधुवाद आदि पढ़कर सुनाये गये और इन्द्रने इनसे अपने-आपको विशेष सम्मानित और पुरस्कृत अनुभव किया।

और सब संदेश पढ़ चुकनेके बाद सोमदेवने केवल एक संदेशको बिना सुनाये यों ही अनावश्यक पत्रोंके पात्रमें डाल दिया।

'उस पत्रको आपने क्यों नहीं सुनाया ?' इन्द्रने उसीकी ओर संकेत कर पूछा।

'वह कोई कामका पत्र नहीं, महाराज !' संकुचित-से बोले।

इन्द्रने स्वयं बढ़कर उस पत्रको उठा लिया। उसकी पंक्तियोंपर दृष्टि फिराते ही उनके मुखकी प्रसन्नता दुगुनी दमक उठी।

'सबसे अधिक सार्थक और सम्मान-प्रद साधुवाद तो मेरे लिये इसी बधाईमें है।' इन्द्रने देव-दरबारमें उस संदेश-पत्रको माथेसे लगाते हुए कहा। 'इसीके बलपर मैं पितामह ब्रह्मासे अपने लिये कुछ विशेष सम्मान और अधिकार प्राप्त कर सकूँगा।'

इन्द्रने देव-दरबारमें उस संदेशको स्वयं पढ़कर सुनाया। वह पृथिवीके एक निर्जन मरुस्थलके बीच बने हुए एक पुराने सूखे कुएँमें रहनेवाले एक मेढककी भेजी हुई बधाई थी। उसमें कहा गया था कि 'पिछली अनेक वर्षा-ऋतुओंमें भी निर्जल रहनेके पश्चात् अबकी बारकी वर्षासे उस सूखे कुएँके स्रोतमें भी पानी आ गया है।'

कहा जाता है कि उस मेढककी बधाईके कारण ही देवराज इन्द्रको स्वर्ग और मर्त्यलोककी कुछ निम्नकोटिकी योनि-जातियोंपर भी, जिनका प्रबन्ध पहले सीधे ब्रह्माजीके ही हाथोंमें था, शासन करनेका अधिकार ब्रह्माजीने दे दिया और इन्द्रकी इस प्रतिष्ठाके उपलक्ष्यमें वह मेढक शीघ्र ही मनुष्य-योनि प्राप्त करके महामुनि मण्डूकके नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह संदिग्ध है कि यही महामुनि मण्डूक ही माण्डूक्य-उपनिषद्के रचयिता हैं या उनसे भिन्न !

—श्रीरावी

जगत्में मित्र कोई नहीं

या जग मीत न देख्यो कोई।

सकल जगत अपने सुख लाग्यो, दुखमें संग न होई॥

दारा-मीत, पूत-संबंधी, सगरे धनसों लागे।

जब हीं निरधन देख्यो नरकों, संग छाँड़ि सब भागे॥

कहा कहूँ या मन बौरेकौं, इनसों नेह लगाया।

दीनानाथ सकल भय-भंजन, जस ताको बिसराया॥

स्वान-पूँछ ज्यों भयो न सूधो, बहुत जतन मैं कीन्हौ।

नानक लाज बिरदकी राखौ नाम तिहारो लीन्हौ॥

गीताके पञ्च महायज्ञ

केवल अग्निमें आहुति और घी डालनेका नाम ही यज्ञ नहीं है। 'यज्ञ' शब्द ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले समस्त कर्मोंका वाचक है। कोई भी कर्म विधिपूर्वक कर्तव्यबुद्धिसे किया जाय तो उससे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिये विधिपूर्वक कर्तव्यबुद्धिसे किये जानेवाले कर्मका नाम यज्ञ हुआ। ये यज्ञ वास्तवमें पाँच ही हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक या शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक जगत्में प्रधान वस्तुएँ पाँच हैं—(१) धन, (२) तन, (३) मन, (४) बुद्धि एवं (५) आत्मा। इन्हींको उचित रीतिसे बरतनेका नाम यज्ञ है। ईमानदारीसे धन कमाकर देश, काल और पात्रका विचार करते हुए उसे कर्तव्यबुद्धिसे व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है, क्योंकि इस प्रकार धन कमाने और खर्च करनेसे हम ज्ञानकी ओर बढ़ते हैं। धनके पश्चात् तन या शरीरका नंबर आता है। अच्छे कामके लिये कर्तव्यबुद्धिसे शारीरिक कष्ट उठाना 'तपोबल' है। शरीरको नाना प्रकारके कष्ट देकर निकम्मा बना देनेका नाम 'तपोयज्ञ' नहीं है। शरीरको आसन और व्यायामादिसे स्वस्थ बनाकर कर्तव्यबुद्धिसे सेवा आदि लोकोपकारी कार्योंमें लगाना ही 'तपोबल' है।

तीसरा यज्ञ मनसे सम्बन्ध रखनेवाला है, जिसे 'योगयज्ञ' कहते हैं। मनको इस प्रकार सधाना कि वह हानि-लाभ, सुख-दुःख, जय-पराजय आदिमें सम रहे।

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गीता २।४८)

—इसीका नाम योग है। ज्ञानका साधन होनेसे इसकी भी 'यज्ञ' संज्ञा है। इसको 'दैवयज्ञ' भी कहते हैं, क्योंकि योगमें इन्द्रियोंका दमन करना होता है और इन्द्रियोंको उनमें इन्द्रियाभिमानी देवता रहनेके कारण 'दैव' भी कहते हैं। तप और योगमें यह भेद है कि तपमें तनको जबरदस्ती अच्छे कामोंमें लगाते हैं, कष्टको हँसी-खुशीसे सहन करना पड़ता है और योगमें मनको वशमें करके अच्छे कामोंमें लगानेसे उनकी सिद्धि या असिद्धिमें हर्ष-शोक नहीं होता। योगदर्शन एवं गीतादि शास्त्रोंमें मनको वशमें करनेकी विधियाँ लिखी हैं, जिन्हें योगी पुरुष ही अपने अनुभवद्वारा भलीभाँति बतला सकते हैं।

संसारमें चौथी वस्तु, जो धन, तन और मनसे भी श्रेष्ठ है—बुद्धि है, जिसकी शुद्धिके लिये वैदिक ऋषियोंने प्रार्थना की है, जो हिन्दुओंके गायत्री-मन्त्रके रूपमें पायी जाती है। इस बुद्धिका ही अनुचित प्रयोग होनेसे आज सारे संसारमें हाहाकार मच रहा है। इसीका दुरुपयोग करके आजकलके वैज्ञानिक लोग ऐसी-ऐसी गैसें और यन्त्र बना रहे हैं, जिनसे मनुष्यका दम घुटने लगे और दुनियामें त्राहि-त्राहि मच जाय। सारांश, इसके अनुचित उपयोगसे जितनी हानि हो रही है या होनी सम्भव है, उतनी हानि प्रथम तीन वस्तुओंके दुरुपयोगसे नहीं हो सकती। और साथ ही जो लाभ इसके सदुपयोगसे हो सकता है वह पूर्वोक्त तीनों वस्तुओंके सदुपयोगसे नहीं हो सकता। बुद्धिको शुभ मार्गमें लगाकर ज्ञानकी ओर ले जानेके लिये अर्थात् बुद्धियज्ञ करनेके लिये यति होनेकी अर्थात् वीर्यरक्षाकी अत्यन्त आवश्यकता है। जो वीर्यकी रक्षा करता है, वही सच्चा 'वीर' है और जो वीर होकर परोपकार और सेवा करता है, वह 'महावीर' है तथा जो सेवामें मान-अपमानका विचार नहीं करता अर्थात् अपने प्राणोंका हनन करता है, वह 'हनुमान्' है। इस बुद्धि-यज्ञका ही नाम 'स्वाध्याययज्ञ' है। इसीलिये वेदोंके अध्ययनको, जो समस्त विद्या और बुद्धिके भण्डार हैं, 'स्वाध्याय' कहते हैं और इस स्वाध्यायके लिये ब्रह्मचारी रहना हमारे शास्त्रोंमें आवश्यक बतलाया गया है।

अन्तिम यज्ञ 'ज्ञानयज्ञ' है। इसका सम्बन्ध आत्मासे है, जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। समस्त कर्म इस ज्ञानरूपी यज्ञमें लीन हो जाते हैं—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

(गीता ४।३३)

इस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये तीव्र व्रत अर्थात् दृढ़ संकल्पकी आवश्यकता है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो धन, शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा—इन पाँचके अतिरिक्त तीनों लोकोंमें कोई छठी वस्तु है ही नहीं। इन पाँचों यज्ञोंका सम्बन्ध पञ्चतत्त्व, पञ्चकोष तथा वैदिक एवं पौराणिक महायज्ञोंसे है।

भक्तवर श्रीसुतीक्ष्णद्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति

त्वन्मन्त्रजाप्यहमनन्तगुणाप्रमेय सीतापते शिवविरिञ्चिसमाश्रिताङ्घ्रे ।
संसारसिन्धुतरणामलपोतपाद रामाभिराम सततं तव दासदासः ॥
मामद्य सर्वजगतामविगोचरस्त्वं त्वन्मायया सुतकलत्रगृहान्धकूपे ।
मग्नं निरीक्ष्य मलपुद्गलपिण्डमोहपाशानुबद्धहृदयं स्वयमागतोऽसि ॥
त्वं सर्वभूतहृदयेषु कृतालयोऽपि त्वन्मन्त्रजाप्यविमुखेषु तनोषि मायाम् ।
त्वन्मन्त्रसाधनपरेष्वपयाति माया सेवानुरूपफलदोऽसि यथा महीपः ॥
विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थितिहेतुरेकस्त्वं मायया त्रिगुणया विधिरीशविष्णू ।
भासीश मोहितधियां विविधाकृतिस्त्वं यद्वद्रविः सलिलपात्रगतो ह्यनेकः ॥
प्रत्यक्षतोऽद्य भवतश्चरणारविन्दं पश्यामि राम तमसः परतः स्थितस्य ।
दृग्रूपतस्त्वमसतामविगोचरोऽपि त्वन्मन्त्रपूतहृदयेषु सदा प्रसन्नः ॥
पश्यामि राम तव रूपमरूपिणोऽपि मायाविडम्बनकृतं सुमनुष्यवेषम् ।
कंदर्पकोटिसुभगं कमनीयचापबाणं दयार्द्रहृदयं स्मितचारुवक्त्रम् ॥
सीतासमेतमजिनाम्बरमप्रधृष्यं सौमित्रिणा नियतसेवितपादपद्मम् ।
नीलोत्पलद्युतिमनन्तगुणं प्रशान्तं मद्भागधेयमनिशं प्रणमामि रामम् ॥
जानन्तु राम तव रूपमशेषदेशकालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम् ।
प्रत्यक्षतोऽद्यं मम गोचरमेतदेव रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे ॥

(अध्यात्मरामा० ३ । २ । २७-३४)

(श्रीसुतीक्ष्णजी बोले—) 'हे अनन्त-गुण अप्रमेय सीतापते ! मैं आपका ही मन्त्र जपता हूँ। हे अभिराम राम ! शिव और ब्रह्मा आपके चरणोंके आश्रित हैं। आपके चरण संसार-सागरसे पार करनेके लिये सुदृढ़ पोत (जहाज) हैं। हे नाथ ! मैं सर्वदा आपके दासोंका दास हूँ। आप समस्त जङ्गम जीवोंकी इन्द्रियोंके अविषय हैं तथापि इस मल-मूत्रके पुतले शरीरके मोह-पाशमें जिसका हृदय बँधा हुआ है, ऐसे मुझ दीनको अपनी ही मायासे मोहित होकर पुत्र-कलत्र और गृह आदिके अन्धकूपमें पड़ा देखकर आप स्वयं ही (मुझे उस अन्धकूपसे उबारनेके लिये) पधारे हैं ! आप समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं, तथापि जो लोग आपके मन्त्रजापसे विमुख हैं, उन्हें आप अपनी मायासे मोहित करते हैं और जो उस मन्त्रके जापमें तत्पर हैं, उनकी माया (आपकी कृपासे अनायास) दूर हो जाती है। इस प्रकार राजाके समान आप सबको उनकी सेवाके अनुसार फल देनेवाले हैं। हे ईश ! वास्तवमें एकमात्र आप ही इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण होते हुए त्रिगुणमयी मायाके कारण ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके रूपोंमें भासते हैं, आप ही मुग्धचित्त पुरुषोंकी (दृष्टिमें) (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) नाना प्रकारकी आकृतियोंसे प्रतीत हो रहे हैं, जिस प्रकार जलके पात्रोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे सूर्य अनेक होकर भासता है। हे राम ! आप अज्ञानसे सर्वथा परे हैं। तथापि आपके चरण-कमलोंको आज मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। (इससे विदित होता है कि) सबके साक्षी होनेसे आप असत्पुरुषोंको अगोचर होकर भी जिनका चित्त आपके मन्त्रजापसे शुद्ध हो गया है, उनपर सदा प्रसन्न रहते हैं। हे राम ! आप रूपरहित हैं, तथापि अपने ही माया-विलाससे धारण किये आपके मनोहर मनुष्य-वेषधारी स्वरूपको मैं देख रहा हूँ। आपका यह रूप करोड़ों कामदेवोंके समान कान्तिमान् है और आप कमनीय धनुर्बाण धारण किये हैं। आपका हृदय दयार्द्र तथा मुख मुसकानसे मनोहर है। जो सीताजीसे युक्त हैं, मृगचर्म धारण किये हैं, सर्वथा अजेय हैं, जिनके चरण-कमल नित्य श्रीसुमित्रानन्दनके द्वारा सेवित हैं और जिनकी नीलकमलके समान आभा है, उन अनन्त-गुणसम्पन्न अत्यन्त शान्त मेरे सौभाग्यस्वरूप श्रीराममूर्तिको मैं अहर्निश प्रणाम करता हूँ। हे राम ! जो लोग आपके स्वरूपको देश-काल आदि समस्त उपाधियोंसे रहित और चिद्घन-प्रकाशस्वरूप मानते हैं, वे भले ही वैसा ही जानें; किंतु मेरे हृदयमें तो, आज जो प्रत्यक्षरूपसे मुझे दिखायी दे रहा है, यही रूप भासमान होता रहे। इसके अतिरिक्त मुझे और किसी रूपकी इच्छा नहीं है।'